कहीं नहीं वहीं

कहीं नहीं वहीं

अशोक वाजपेयी की नयी कविताएँ

1989-1990

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु 60 00

© अशोक वाजपेयी

प्रथम संस्करण : 1990

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा लि ,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110 002

लेजर टाइपसैटिंग : मंजु कंपोजर्स,
ई-71, मिंटो रोड, नई दिल्ली-110 002

मुद्रक : नाजिया प्रिंटर्स,
लालकुआँ, दिल्ली-110 006

आवरणचित्र : हरचदन सिंह भट्टी

KAHIN NAHIN VAHIN
Poems by Ashok Vajpeyi

ISBN : 81-7178-184-5

रश्मि के ही लिए

शब्दों से ही

हम बहुत देर खोजते रहे। हमें पता नहीं था कि क्या। कभी कुछ वाक्य, कभी जीवन का अर्थ। कभी नियति का आशय। कभी किसी सम्बन्धी की आभा। कभी राहत और उम्मीद। कभी कुछ भी नहीं।

रास्ते कई थे कुछ जो पहले के थे और कुछ जो हमारे सामने देखते-देखते औरों ने बनाये। हमने भी इधर-उधर चहलकदमी की। कभी रोशनी मिली, कभी घुप्प अँधेरा कभी निरी गोधूलि।

शुरू में लगता था कि इतनी जल्दी क्या है—काफी समय है, पूरी उमर पड़ी है। अब लगता है कि समय कम हो रहा है, रोशनी धुँधला रही है। पर शब्द हैं कि अधीर और उतावले हैं जैसे कि यह पहले प्रेम का मौसम हो। शब्दों से ही हम जानते हैं शब्दों को।

जो साथ चले थे जाने कब अपनी-अपनी राह कहाँ निकल गए। जाने कहाँ-कहाँ रोशनी की तलाश में भटकने के बाद अब समझ में आ रहा है कि रोशनी कहीं और से नहीं, इन्हीं शब्दों से आ रही है।

अशोक वाजपेयी

10 दिसम्बर 1990

ग्वालियर।

क्रम

अवसान

तुम जहाँ कहो

तुम जहाँ कहो
वहाँ चले जायेंगे

दूसरे मकान में
अँधेरे भविष्य में
न कहीं पहुँचने वाली ट्रेन में

अपना बसता-बोरिया उठाकर
रद्दी के बोझ सा
जीवन को पीठ पर लादकर
जहाँ कहो वहाँ चले जायेंगे

वापस इस शहर
इस चौगान, इस आँगन में नहीं आयेंगे

वहीं पक्षी बनेंगे, वृक्ष बनेंगे
फूल या शब्द बन जायेंगे
जहाँ तुम कभी खुद नहीं आना चाहोगे
वहाँ तुम कहो तो
चले जायेंगे

1990

वहाँ भी

हम वहाँ भी जायेंगे
जहाँ हम कभी नहीं जायेंगे

अपनी आखिरी उड़ान भरने से पहले,
नीम की डाली पर बैठी चिड़िया के पास,
आकाशगंगा में आवारागर्दी करते किसी नक्षत्र के साथ,
अज्ञात बोली में उचारे गये मंत्र की छाया में
हम जायेंगे
स्वयं नहीं
तो इन्हीं शब्दों से—

हमें दुखी करेगा किसी प्राचीन विलाप का भटक रहा अंश,
हम आराधना करेंगे
मंदिर से निकाले गये
किसी अज्ञातकुलशील देवता की—

हम थककर बैठ जायेंगे
दूसरों के लिए की गयी
शुभकामनाओं और मनौतियों की छाँह में—

हम बिखर जायेंगे
पंखों की तरह
पंखुरियों की तरह
पत्तियों और शब्दों की तरह—

हम वहाँ भी जायेंगे
जहाँ हम कभी नहीं जायेंगे।

1990

एक बार जो

एक बार जो ढल जायेंगे
शायद ही फिर खिल पायेंगे।

फूल शब्द या प्रेम
पंख स्वप्न या याद
जीवन से जब छूट गये तो
फिर न वापस आयेंगे।

अभी बचाने या सहेजने का अवसर है
अभी बैठकर साथ
गीत गाने का क्षण है।

अभी मृत्यु से दाँव लगाकर
समय जीत जाने का क्षण है।

कुम्हलाने के बाद
झुलस कर ढह जाने के बाद
फिर बैठ पछतायेंगे।

एक बार जो ढल जायेंगे
शायद ही फिर खिल पायेंगे

1990

हम न होंगे

हम न होंगे—
जीवन और उसका अनन्त स्पन्दन,
कड़ी धूप में घास की हरीतिमा,
प्रेम और मंदिरों का पुरातन स्थापत्य,
अक्षर, भाषा और सुन्दर कविताएँ,
इत्यादि, लेकिन, फिर भी सब होंगे—
किलकारी, उदासी और गान सब—
बस हम न होंगे।

शायद कभी किसी सपने की दरार में,
किसी भी क्षण भर की याद में,
किसी शब्द की अनसुनी अन्तर्ध्वनि में—
हमारे होने की हलकी सी छाप बची होगी
बस हम न होंगे।

देवता होंगे, दुष्ट होंगे,
जंगलों को छोड़कर बस्तियों में
मठ बनाते सन्त होंगे,
दुबकी हुई पवित्रता होगी,
रौब जमाते पाप होंगे,
फटे-चिथड़े भरे-पूरे लोग होंगे,
बस हम न होंगे।

संसार के कोई सुख-दुख कम न होंगे
बस हम न होंगे।

1990

अकेले क्यों

हम उस यात्रा में
अकेले क्यों रह जायेंगे ?

साथ क्यों नहीं आयेगा हमारा बचपन,
उसकी आकाश-चढ़ती पतंगें
और लकड़ी के छोटे से टुकड़े को
हथियार बनाकर दिग्विजय करने का उद्‌यम—
मिले उपहारों और चुरायी चीजों का अटाला ?

क्यों पीछे रह जायेगा युवा होने का अद्‌भुत आश्चर्य,
देह का प्रज्ज्वलित आकाश,
कुछ भी कर सकने का शब्दों पर भरोसा,
अमरता का छद्‌म,
और अनन्त का पड़ोसी होने का आश्वासन ?

कहाँ रह जायेगा पकी इच्छाओं का धीरज
सपने और सच के बीच बना
बेदरोदीवार का घर
और अगम्य में अपने ही पैरों की छाप से बनायी पगडण्डियाँ ?

जीवन भर के साथ-संग के बाद
हम अकेले क्यों रह जायेंगे उस यात्रा में ?

जो साथ थे वे किस यात्रा पर
किस ओर जायेंगे ?

वे नहीं आयेंगे हमारे साथ
तो क्या हम उनके साथ
जा पायेंगे ?

1990

हम

हम उस मंदिर में जायेंगे
जो किसी ने नहीं बनाया
शताब्दियों पहले

हम प्रणाम करेंगे उस देवता को
जो थोड़ी देर पहले
हमारे साथ चाय की दूकान पर
अखबार पलट रहा था

हम जंगल के सुनसान को भंग किये बिना
झरने के पास बैठकर
सुनेंगे पक्षियों-पल्लवों-पुष्पों की प्रार्थनाएँ

फिर हम धीरे-धीरे
आकाशमार्ग से वापस लौट जायेंगे
कि किसी को याद ही न रहे
कि हम थे, जगल था
मंदिर और देवता थे
प्रणति थी—

कोई नहीं देख पायेगा
हमारा न होना
जैसे प्रार्थना में डूबी भीड़ से
लोप हो गये बच्चों को
कोई नही देख पाना—

1990

सब कुछ छोड़कर नहीं

हम सब कुछ छोड़कर
यहाँ से नहीं जायेंगे

साथ ले जायेंगे
जीने की झंझट, घमासान और कचरा
सुकुमार स्मृतियाँ, दुष्टताएँ
और कभी कम न पड़नेवाले शब्दों का बोझ।

हरियाली और उजास की छबियाँ
अप्रत्याशित अनुग्रहों का आभार
और जो कुछ भी हुए पाप-पुण्य।

समय-असमय याद आनेवाली कविताएँ
बचपन के फूल-पत्तियों भरे हरे सपने
अधेड़ लालसाएँ
भीड़ में पीछे छूट गये बच्चे का दारुण विलाप।

दूसरों की जिन्दगी में
दाखिल हुए अपने प्रेम और चाहत के हिस्सों
और अपने होने के अचरज को
साथ लिये हम जायेंगे।

हम सब कुछ छोड़कर
यहाँ से नहीं जायेंगे।

1990

नहीं आ पायेंगे

जब एक दिन हम
सब कुछ छोड़कर चले जायेंगे
तो फिर बहुत दिनों तक वापस नहीं आयेंगे।

पता नहीं किस अँधेरे, किस भविष्य, किस जंगल में भटकेंगे,
किस गुफा में बसेरा करेंगे,
कहाँ क्या-कुछ बीन-माँग कर खायेंगे ?

पता नही कौन से शब्द और स्वप्न,
कौन सी यादे और इच्छाएँ,
कौन से कपड़े और आदतें,
यही पीछे छूट जायेंगे—
जाते हुए पता नहीं कौन सी शुभाशंसा
कौन सा विदागीत हम गुनगुनायेंगे ?

फिर जब लौटेंगे
तो पुरा-पड़ोस के लोग हमें
पहचान नहीं पायेंगे,
अपना घर चौबारा बिना पलक झपकाये ताकेगा,
हम जो छोड़कर गये थे
उसी में वापस नहीं आ पायेंगे।

हम यहाँ और वहाँ के बीच
कुछ देर चिथड़ों की तरह फड़फड़ायेंगे—
फिर हवा में,

गैब में
आसमान में
ओझल हो जायेंगे।

हम चले जायेंगे
फिर वापस आयेंगे
और नहीं आ पायेंगे।

1990

वापसी

जब हम वापस आयेंगे
तो पहचाने न जायेंगे—

हो सकता है हम लौटें
पक्षी की तरह
और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें
फिर जब तुम्हारे बरामदे के पंखे के ऊपर
घोंसला बनायें
तो तुम्हीं हमें बार-बार बरजो—

या फिर थोड़ी सी बारिश के बाद
तुम्हारे घर के सामने छा गयी हरियाली
की तरह वापस आयें हम
जिससे राहत और सुख मिलेगा तुम्हें
पर तुम जान नहीं पाओगे कि
उस हरियाली में हम छिटके हुए हैं।

हो सकता है हम आयें
पलाश के पेड़ पर नयी छाल की तरह
जिसे फूलों की रक्तिम चकाचौंध में
तुम लक्ष्य भी नहीं कर पाओगे।

हम रूप बदलकर आयेंगे
तुम बिना रूप बदले भी
बदल जाओगे—

हालाँकि घर, बगिया, पक्षी-चिड़िया,
हरियाली-फूल-पेड़, वहीं रहेंगे
हमारी पहचान हमेशा के लिए गड्डमड्ड कर जायेगा
वह अन्त
जिसके बाद हम वापस आयेंगे
और पहचाने न जायेंगे।

1990

अन्त के बाद-1

अन्त के बाद
हम चुपचाप नहीं बैठेंगे।

फिर झगड़ेंगे,
फिर खोजेंगे,
फिर सीमा लाँघेंगे

क्षिति जल पावक
गगन समीर से
फिर कहेंगे—
चलो
हमको रूप दो,
आकार दो।

वही जो पहले था
वही—
जिसके बारे में
अन्त को भ्रम है
कि उसने सदा के लिए मिटा दिया।

अन्त के बाद
हम समाप्त नहीं होंगे—
यहीं जीवन के आसपास
मँडरायेंगे—
यहीं खिलेंगे गन्ध बनकर,

बहेंगे हवा बनकर,
छायेंगे स्मृति बनकर।

अन्ततः
हम अन्त को बरकाकर
फिर यहीं आयेंगे—
अन्त के बाद
हम चुपचाप नहीं बैठेंगे।

1990

अन्त के बाद-2

अन्त के बाद
कुछ नहीं होगा—
न वापसी
न रूपान्तर
न फिर कोई आरंभ।

अन्त के बाद
सिर्फ अन्त होगा।

न देह का चकित चन्द्रोदय,
न आत्मा का अँधेरा विषाद,
न प्रेम का सूर्यस्मरण।

न थोड़े से दूध की हलकी सी चाय,
न बटनों के आकार से
छोटे बन गये काजों की झुँझलाहट।

न शब्दों के पंचवृक्ष,
न मौन की पुष्करिणी,
न अधेड़ दुष्टताएँ होंगी
न वनप्रान्तर में नीरव गिरते नीलपंख।

न निष्प्रभ देवता होंगे,
न पताकाएँ फहराते लफंगे।

अन्त के बाद

हमारे लिए कुछ नहीं होगा—
उन्हीं के लिए सब होगा
जिनके लिए अन्त नहीं होगा।

अन्त के बाद
सिर्फ
अन्त होगा,
हमारे लिए।

1990

ओझल

फटेहाल बच्चों की तरह
देवता आयेंगे
और घूरे पर फिंकी बेकार चीजों की तरह
हमारे सुख-दुख
बीन-नबेर कर ले जायेंगे।

मुहल्ले में चक्कर लगाता ठेलेवाला लड़का
तराजू की डण्डी मारकर
अखबारों की रद्दी की तरह
तौलेगा हमारे शब्द
और कुछ तुड़े-मुड़े नोट हमें थमाकर
उन्हें लाद ले जायेगा।

अजनबियों की तरह घूरते मिलेंगे
बाजार में अकृतज्ञ लोग—
मँहगी चीज खरीदने के लिए
दाम पास न होने से
हम दूकानों से दूर खड़े ललचायेंगे।

जीवन के बियाबान
मृत्यु के मरुस्थल में
होने-न-होने की गोधूलि में
गिरते-पड़ते हम
फिर ओझल हो जायेंगे।

1990

गोधूलि में ही

दिन होगा जनाकीर्ण
रैनबसेरे भरे होंगे
हमें जगह मिलेगी
गोधूलि में ही—

बूढ़े देवता के बहीखातों में
नहीं होगा हमारा कोई उल्लेख
पाप-पुण्य का हिसाब-किताब रखनेवाले
दस्तावेजों में
हमारा नाम नहीं निकलेगा न ही कुछ लेन-देन।

स्वर्ग के द्वार पर
खड़े होंगे लज्जित हम,
नरक के रौरव हाहाकार के सामने
खड़े होंगे पराजित हम।

बचे रह गये जीवट की लौ में
हम खोजेंगे
गली-चौबारों में
अपने लापता पुरखे
और खाली हाथ भटकते रहेंगे।

किसी दैवी गवाक्ष से
देखेंगे पृथ्वी को,
उस पर अपना छोटा सा घर

पहचान नहीं पायेंगे।

चाहत में हमेशा की तरह अकेले
हिम्मत में अकेले
गोधूलि में
अकेले

1990

कितना अच्छा हो

कितना अच्छा हो
अगर पहले से मालूम न पड़े—
जैसे अकस्मात् गिरता है
पलाश के वृक्ष से तोते की चोंच से अधखाया फल,
जैसे खुले दरवाजे पर
भी बड़ी सुबह देता है
कोई अदृश्य एक हलकी सी दस्तक,
जैसे विलीन हो जाता है
नीले अनन्त में
कोई पक्षी
बिना जाने कि यह अन्तिम उड़ान है।

कितना अच्छा हो
कि जैसे किसी प्राचीन पद्य से
एक अप्रचलित शब्द एक दिन
अकस्मात् हो जाये लोप—
कन्धे पर लदी पाथेय की गठरी से
अनजाने रास्ते पर गिर जाये
कुछ अन्न।

जैसे प्रार्थना में,
प्रेम में,
नींद में झुका माथा
फिर न उठ पाये ऊपर—

कितना अच्छा हो
जो होना है अन्त
जीवन की उत्कट सघनता में
अकस्मात् हो जाये—
कि कह या सोच भी न पायें
कि कुछ कविताएँ
और उसकी यौवनाभा और कामना के उपहार
सहेज लें तो चलें।

1990

शेष गाथ.

बची रहती है आशा—
गरमी से सब कुछ सूख जाने के बाद भी
डबरे में बची रहती है
थोड़ी सी नमी।

भारी चट्टान के नीचे
दुबके से बचे रहते हैं
वीरबहूटी के दल।

हरहराती चन्द्रभागा
लील जाती है सब कुछ
घर-द्वार ढोर-डंगर
खेत और बाग—
बची रहती है
किसी पेड़ से उलझे छप्पर पर
एक छोटी सी बच्ची।

अस्वीकार की क्रूर चुप्पी के बाद
बचा रहता है
एक अनसुना पर स्पन्दित शब्द।

बची रहती है
आशा—

1990

देवता हमें पुकारेंगे

झण्डे, डण्डे और गँडासे लिये भीड़ से बचकर
पड़ोसियों के सहारे के बिना भी
किसी गरीब बुढ़िया की दया से
जब हम शहर से भाग रहे होंगे तो
देवता हमें पुकारेंगे—

जब पाप या प्रेम करने की बची न होगी शक्ति,
जब एक लहूलुहान आत्मा और जर्जर शरीर भर होंगे पास,
जब शब्द उड़ रहे होंगे चिन्दियों की तरह हवा में
तब किसी पुराने छज्जे से
सपने की किसी ऊँची चट्टान से
सदियों से बन्द किसी खिड़की से
देवता हमें पुकारेंगे।

गरमी में सूख गये पोखर सी
चाहत सूख चुकी होगी
इच्छा के पतझर में—
धूल-सने और प्यासे जब हम
थककर बैठेंगे निराशा की परछी में
तो देवता हमें पुकारेंगे।

जब देने को नहीं होगा गुड़-पानी,
फूल-अक्षत या पुष्प,
जब बची नहीं होगी शक्ति कुछ भी पाने की
मुक्ति या वरदान—
तब देवता हमें पुकारेंगे।

1990

अगली बार

अगली बार
हम खरीदेंगे
उस ऊबे देवता की दूकान से
कुछ पुरानी पोथियाँ, औषधियाँ और बर्तन।

अगली बार
हम पूछेंगे
इसी शहर के किसी बुजुर्ग से
सँकरी गली में खोये किसी पुराने दोस्त के घर का ठिकाना
या बचपन में
असावधानी से खुली रह गयी खिड़कियों को
बन्द करने की जुगत।

अगली बार
हम एक अपरिचित द्वार पर देंगे दस्तक
और न खुलने पर
वहीं दहलीज पर रख जायेंगे
अपने शब्दों, इच्छाओं और प्रेम की पोटली।

अगली बार
जो भी चौक-बाजार में,
पड़ोस में,
या आत्मा और अनुराग के सुनसान में मिलेगा
उसके लिए
हम लायेंगे उपहार

अनश्वरता का, अनन्त का
पुराने जन्म की गुनगुनाहट में बसे भविष्य का।

अगली बार
जब हम आयेंगे तो
पहली बार ही—

1990

मृत्यु

एक पक्षी की तरह
सहज भाव से
और लगभग अनदेखा
आयेगा एक दिन
यमदूत
और खिड़की में हमें देखकर
वापस चला जायेगा।

हमें पता भी नहीं चलेगा
पता चलेगा घर के पास
अदृश्य पक्षियों की तरह मँड़राते पूर्वजों को।

फिर एक दिन धूप की तरह वह आयेगी—
गरमाहट की तरह शरीर पर छा जायेगी,
एक बच्चे को उँगली पकड़कर ले जाते हैं
जैसे सुबह-सुबह घुमाने
वैसे अपने साथ ले जायेगी।

1990

वही नहीं

शाम होने पर
पक्षी लौटते हैं
पर वही नहीं जो गये थे

रात होने पर फिर से जल उठती है
दीपशिखा
पर वही नहीं जो कल बुझ गयी थी

सूखी पड़ी नदी भर जाती है
किनारों को दुलराता है जल
पर वही नहीं जो
बादल बनकर उड़ गया था

हम भी लौटेंगे
प्रेम में कविता में घर में
जन्मान्तरों को पार कर
पर वही नहीं
जो यहाँ से उठकर गये थे—

फिर आऊँगा

मैं फिर आऊँगा
भले ही जन्मान्तर के बाद
तुम्हारे ही पास।

मैं झगड़ा करूँगा
देवताओं से
और नक्षत्रों की बाधाएँ पार करके
सुबह खिड़की पर अकस्मात् आये
दूर देश के पक्षी की तरह
या गलत करवट सोने के बाद
बाँह में हुए दर्द की तरह
मैं आऊँगा—

सब कुछ राख हो जाने के बाद भी
बची रह गई पवित्र चिनगारी की तरह,
नीम के बौर की कड़वी-मीठी गन्ध की तरह,
किसी बेहद बूढ़े के जीवनव्यापी विषाद या
किसी बच्चे की अकारण हँसी की तरह,
मैं फिर आऊँगा
भले ही जन्मान्तर के बाद
तुम्हारे ही पास।

1990

इसी मटमैलेपन पर

हमें नहीं चाहिए
वह दिव्य आलोक
वह निरभ्र नीरवता
सान्निध्य का वह ऐश्वर्य—

हम तो यही
मटमैलेपन पर
वापस आयेंगे।

यह पाप-पुण्य,
माया-मोह,
धूल और कलुष से सना जीवन—
वह किसे अर्पित करेंगे ?
जो इसे जस का तस
स्वीकार कर ले,
ऐसी देहरी कहाँ पायेंगे ?

अपने इन्हीं घावों पर,
ग़रीब सी खुशी
और पहाड़-भर दुख पर,
इसी धुएँ और शोर से भरी
लड़ती-झगड़ती,
कीचड़ उछालती ज़िन्दगी पर—

अपने नामरूप को सहेजे हुए
किसी विराट् में अपने को लीन किये बिना
हम इसी मटमैलेपन पर
वापस आयेंगे।

1990

शरण्य

शरण खोजते हुए
फिर हम तुम्हारे पास ही आयेंगे।

नक्षत्रों में नहीं मिलेगा कहीं ठौर---
देवता मुँह फेर लेंगे,
स्वर्ग-नरक की भीड़ में
पुरखों का नहीं चलेगा कहीं पता-ठिकाना---
अजनबी की तरह देखेंगे मित्र और पड़ोसी।

छोड नही पायेंगे पीछे अपनी यादें
तज नहीं पायेंगे पुराने कपड़ो की तरह
अपने मोह,
किसी चबूतरे पर अवैध कुछ की तरह
चुपके से रख नहीं पायेंगे अपने शब्द,
ओझल नही हो पायेंगे
किसी बियावान में---
किसी प्रार्थना की तरह गूँजकर
देवघर में
हवा में दूर बह नहीं जायेंगे।

अपने घाव, अपने चेहरे पर धूल,
अपनी आत्मा मे थकान लिये,
अपनी आँखों में उम्मीद का आखिरी कतरा
गिरने से बचाये हुए,
जन्मान्तर और नामहीनता की राहत

अस्वीकार कर,
हम फिर इसी मटमैले घर
वापस आयेंगे।

मिले, न मिले
यहीं शरण पायेंगे—

1990

आवृत्ति

एक उथली नदी में सिरायी गयीं पितृ-अस्थियाँ
कविताओं में बार-बार लौटती मातृस्मृति
सामने फैले नीम की पुरखा-छाया—

जो बीत चुका है
वह समय भी
आता है वापस
छन्द की आवृत्ति सा।

हम वह नहीं हैं
जो पुरखे थे : माँ या पिता थे
और हम वही हैं
जो वे थे।

हमारा घर
पितरों का ही बनाया हुआ घर है—
हम जल की तरह
यहाँ वहाँ बहते, रास्ता निकालते
भटककर, ढाल पर प्रसन्न
उतरते हुए,
चट्टान के पास से फूटकर झरने में,
बरसकर शाम के अप्रत्याशित बादल की तरह,
रात को सोयी हुई वनस्पतियों को जगाते हुए,
भोर के उजास में चमकतार होते हुए,
हम पहुँचते हैं
क्या
अन्ततः पितरों के तट पर ही ?

1990

फिर घर

माँ को कैसे पता चलेगा
इतने बरसों बाद
हम फिर उसके घर आये हैं—

कुछ पल उसको अचरज होगा,
चेहरे पर की धूल-कलुष से विभ्रम भी—
फिर पहचानेगी
हर्ष-विषाद में डूबेगी-उतरायेगी।

नहीं होगा उसका घर
विष्णुपदी के पास
याकि हरिचन्दन और पारिजात की देवच्छाया में
वहाँ भी ले रखी होगी उसने
किराये से रहने की जगह
वैसे ही भरे-पूरे मुहल्ले और
उसके शोरगुल में।

फिर पिता आयेंगे शाम को घूमकर
और हमेशा की तरह बिना कुछ बोले
हमें देखेंगे और
मेज पर लगा रात का खाना खायेंगे
और खखूरेंगे अल्मारी में कोई मीठी चीज।

हम थककर सो जायेंगे
अगले दिन जागेंगे तो ऐसे

जैसे कि यहीं बरसों से रहते हों।
हम एक घर छोड़कर
दूसरे घर जायेंगे
ऐसे जैसे कि वही घर हो।

1990

पुरखों के घर

चक्रवाल के पार
स्वर्ग-नरक के छायापथ पर
पुरखों का बनाया और सँभारा
घर है
किसी पुण्यतोया के तट पर
जहाँ हम ब्रह्मरात्र में जायेंगे—
उस असमाप्य यात्रा में
सिवाय पुरखों की परछी के
हम और कहाँ सुस्तायेंगे,
ठौर पायेंगे ?

चन्द्रप्रभ वृक्षों की नहीं होगी कोई छाया
और न ही कोई शरण्य बनाने के लिए
बचे होंगे अक्षर शब्द—
चकाचौंध में दीखेगा नहीं रास्ता
फिर भी हम आगे चले जायेंगे।

संसार अपनी वनस्पतियों
रसगन्ध और अवकाशों के साथ पीछे
समय की तरह छूट गया होगा—
हम अपनी जिजीविषा का पाथेय लिये
ऐसे चलते जायेंगे जैसे
इस मेले में हर बार आने का अभ्यास हो।
उदासीन देवताओं को व्यर्थ पुकारते हुए
हम ब्रह्मरात्र में
पुरखों के घर जायेंगे।

1990

रास्ता

रास्ता ऐसे ही निकलेगा
पर बियाबान से नहीं, न ही बस्तियों की तंग गलियों से
किसी हरी घाटी में
ऊपर कहीं जाती और बिलाती हुई पगडण्डी से भी नहीं—
न ही पृथ्वी की कक्षा पर,
और न ही जलती-झुलसती भूमध्यरेखा पर

जब हम थककर
किसी ढाबे में ड्राइवरों के साथ
खटिया पर बैठकर खा रहे होंगे
आधी रात को खाना
तब गलत हिज्जों वाले शब्दों,
सुबह भुला दिये जानेवाले सपनों
और याद में फिर से उभर आयी
तरुणोचित दुष्टताओं के पास से—
भरोसे, यकीन और उम्मीद के मुकाम छोड़ते हुए
देवदूतों और छुट्टा चर रहे मवेशियों को बरकाते हुए,
उजाले और अँधेरे के झिलमिल रेखांकनों के पास से
जहाँ कविता और रति जाने से झिझकते रहे हैं
रास्ता वहीं से निकलेगा

निष्क्रिय निराशा से—
अवसन्न प्रतीक्षा से—

1990

वहीं

हमने उम्मीद नहीं छोड़ी है
हालाँकि हम जानते हैं कि
हम वहीं रहेंगे
अन्त में
जहाँ हम चाहते हैं
कि हम न रहें।

शुरू में हम दुखी होंगे
शायद विचलित भी,
हमें अच्छा नहीं लगेगा—
सामने का पीपल और
हर समय खाँसता पड़ौसी,
फिल्मी गाने चीखते
बेसुरे बच्चे
और लावारिस कुत्तों का रात भर
भौंकता हुजूम,
वहाँ का बेढब मौसम भी।

फिर हम कहेंगे अपने आप से
कि इन सबसे हमें क्या लेना है—
थोड़े दिन की तो बात है
फिर हमें वहाँ से चल ही देना है।

धीरे-धीरे हम भी बैठेंगे
शाम को पीपल के नीचे के चबूतरे पर,
हम भी करेंगे आते-जाते नमस्कार

उस बूढ़े को—
और चिड़ियों के लिए
बिखरा देंगे अपने आँगन में अन्न के दाने।

फिर हम थोड़ी सी जमीन घेरकर
लगायेंगे बाड़
और सोचेंगे एक दोपहर
कि जब यहीं रहना है
तो कुछ इन्तजाम कर रखना चाहिये।

उम्मीद होगी
पर पुराने पड़ते कपड़े की तरह
बदलता जायेगा
धीरे-धीरे उसका रंग
और हम उसे खूँटी पर टँगा रहने देंगे।

फिर हम मोड़ से आगे घूमने जाना
बन्द कर देंगे
और पुराने गाने के किसी शब्द की तरह
भूल जायेंगे
कि उसी के पार
वह जगह थी
जहाँ हमें रहने की उम्मीद थी।

न यहाँ न वहाँ
न उम्मीद में
न नाउम्मीदी में
हम वहीं रहेंगे
जहाँ हम नहीं रहना चाहते थे।

1990

एक खिड़की

मौसम बदले, न बदले
हमें उम्मीद की
कम से कम
एक खिड़की तो खुली रखना चाहिये।

शायद कोई गृहिणी
वसन्ती रेशम में लिपटी
उस वृक्ष के नीचे
किसी अज्ञात देवता के लिए
छोड़ गयी हो
फूल, अक्षत और कुछ मधुरिमा।

हो सकता है
किसी बच्चे की गेंद
बजाय अनन्त में खोने के
हमारे कमरे में अन्दर आ गिरे और
उसे लौटायी जा सके।

देवासुर संग्राम से लहूलुहान
कोई बूढ़ा शब्द शायद
बाहर की ठण्ड से ठिठुरता
किसी कविता की हलकी आँच में।
कुछ देर आराम करने रुकना चाहे।

हम अपने समय की हारी होड़ लगायें

और दाँव पर लगा दें
अपनी हिम्मत, चाहत, सब कुछ—
पर एक खिड़की तो खुली रखना चाहिए
ताकि हारने और गिरने के पहले
हम अँधेरे में
अपने अन्तिम अस्त्र की तरह
फेंक सकें चमकती हुई
अपनी फिर भी
बची रह गयी प्रार्थना—

1990

बची हुई

घर में धीरे-धीरे बिना धुएँ के
बुझती आग,
जंगल के हरे मौन में वर्षा का सन्देह,
खिड़की पर विजड़ित बूढ़ा चेहरा।

मुहल्ले में पानी के लिए सुबह से मचता शोर,
पगुराती गाय के बगल में
आराम से सोया खेतिहर,
सामने की सड़क पर भागती भीड़ से उदासीन
गुलमोहर की डाल पर बैठा अकस्मात् नीलकण्ठ।

स्कूल की ओर भागती साइकिलों को चलाते
बालपैरों की गोरी एड़ियाँ
जासूसी उपन्यास के कुछ गायब पृष्ठ,
सुबह-सुबह पुरानी सारंगी मिलाता हुआ एक युवा हाथ।

आँसुओं की धुंध से देखी गयी
ढलती उम्र से बूँद-बूँद टपककर
झरती हुई उम्मीद।

झगड़ालू पड़ोस से तंग आकर
कहीं और रहने की तलाश,
हारकर थककर
जो भी है उसे बचाने की
शब्द से
फिर भी बची हुई आशा।

1990

सिर्फ नहीं

नहीं सिर्फ आत्मा ही नहीं झुलसेगी
प्रेम में
देह भी झुलस जायेगी
उसकी आँच से

नहीं सिर्फ देह ही नहीं जलेगी
अन्त्येष्टि में
आत्मा भी भस्म हो जायेगी

प्रेम हो या मृत्यु
ऐसी कोई पावक नहीं
जो सिर्फ आत्मा को जलाये
या सिर्फ देह को

1990

कैसे कहें ?

हम अपने किये के कठघरे में
खड़े किये जायेंगे
हमें दिखाया जायेगा
पाप-पुण्य का हिसाब-किताब
हमसे तलब किया जायेगा जवाब।

अपने अनकिये की अदालत के सामने
हम खड़े होंगे मुजरिम की तरह
और हमारी वकालत करने
कोई नहीं उठेगा
सिवाय अनसुने शब्दों के—
हम सच और सिर्फ सच बोलने का
हल्फ उठायेंगे।

हम न इनकार करेंगे
न तसलीम—
हम जो कहेंगे
वह कोई नहीं सुनेगा,
न इजलास, न बिना नाम चेहरों के मुंसिफ
हम पर जो फैसला आयद होगा
वह हमें बताया नहीं जायेगा।

फिर आयेंगे नकाबपोश
और हमें न जाने कहाँ ले जायेंगे
हम न जाने कहाँ से लाये गये थे

हम न जाने कहाँ ले जाये जायेंगे
इसके बाद का किस्सा
गायब होने का है—
कहीं भी दर्ज न होने का—
फिर कभी न सुने जाने का है—
सो आपसे क्या और कैसे कहें ?

1990

बहिष्कृत

नामों, भविष्य और सूखी पत्तियों के ढेर से
अधेड़ होती निराशा और बचपन के अटपटे शब्दों में से
समय, अँधेरे, बरामदों और किसी बुढ़िया टोकरी में फँसे रहे गये किस्से से
हम अपनी अंजलि में
आराधना के लिए भला क्या उठायेंगे ?

खाली हथेलियों में खिंची गहरी रेखाओं को ताकते हुए
ओठों पर सूख गये अस्फुट मौन से
न जाने कब कूच कर गये देवता के सामने
हम क्या नैवेद्य रख पायेंगे ?

हम प्रतीक्षा की खिड़की खोले रखेंगे
हम संभावना की दहलीज के पार भटकते रहेंगे
हम बुझी हुई आरती और सूखे फूलों को हताश देखेंगे
हम मंदिर में
अलक्षित से एक कोने में बैठे रहेंगे।

हम बाहर होंगे :
भटकते कोलाहल से
अन्दर होंगे :
चुप्पी की तरह छाये।
हम पवित्र ग्रंथ से
बहिष्कृत क्षेपक की तरह
कहाँ जायेंगे ?

1990

बचा रहेगा

हम नहीं बचेंगे
पर बचे रहेंगे
धीरे-धीरे ढहते द्वार,
सड़क-चौबारे,
उनके बीच टहलती-भटकती गाथाएँ
कहीं और ठिकाना पा गये
अधूरे सपने,
पीली पड़ती जर्जर पुस्तकों में धूमिल शब्द।
घिसते हुए पत्थर
और अपाठ्य हो गये शिलालेख।

हम नहीं बचेंगे—
बची रहेगी
ऐसे ही हरी घास की नोंक पर चमकती ओस पर
पहला आघात करती किरण धूप की,
दिगम्बर देह पर गवाक्ष से
अनजाने पड़ती कोजागरी—
क्षितिज को अधीर कामना से घेरता-सँवलाता मेघ।

हम नहीं बचेंगे—
पर बचा रहेगा
दिन भर की बारिश के बाद
दूर तक धूप में चमकता हरीतिमा का आश्वासन,
बचा रहेगा

पत्ती-पत्ती खिलता-झरता प्रेम।

हम नहीं बचेंगे
पर बचा रहेगा स्पर्श का आह्लाद,
सान्निध्य की कान्ति,
कामना का तेज,
और निराशा का अँधेरा।

बचा रहेगा अरण्यरोदन,
निर्लज्ज क्रूरता,
अस्ताचल की द्वाभा।

1990

शृंगार

उसकी देह के चन्द्रोदय में
ओस-भींगना है—

हाथ-1

यह सुख भी असहृय हो जायेगा
यह पूरे संसार का
जैसे एक फूल में सिमटकर
हाथ में आ जाना
यह एक तिनके का उड़ना
घोंसले का सपना बनकर
आकाश में

यह अँधेरे में
हाथ का हाथ में आकर
बरजना, झिझकना और
छूट जाना
यह एक रोशन सी जगह का कौंधना
और खो जाना
एक दिन
यह सुख भी असहृय हो जायेगा

1989

हाथ-2

मैं सब कुछ वैसे ही रखूँगा—
मेज़ पर पुस्तकें,
देर बाद लगने वाली प्यास के लिए
एक गिलास में थोड़ा सा पानी,
अपनी दुखती दाईं एड़ी को
दबाने के लिए उस पर अपना हाथ।

शरद के आकाश में एक अर्द्धचन्द्र,
अँधेरे के वृक्ष पर फूलों और फलों की तरह
कुछ जुगनू और कुछ नक्षत्र
और अपने अथाह मौन की रोशनी में
कुछ अँधेरे शब्द।

तुम्हारे हाथ के झिझकते स्पर्श से
तपते हुए
मैं अपने संसार में
सब कुछ वैसे ही रखूँगा
सिर्फ वह हाथ
जहाँ भी रखा जायेगा
वहाँ तुम्हारे हाथ की आँच की ही सरहद होगी।

1989

हाथ-3

उसके हाथ की गुनगुनी धूप
उसके हाथ का झिझकता अँधेरा

उसके हाथ फूलों की तरह
ओस-भीगे और शान्त
उसके हाथ पक्षियो की तरह
भाग जाने को विकल

उसके हाथ अकेले
उसके हाथ डूबे हुए स्वप्न में
उसके हाथ
करते हैं प्रतीक्षा
हाथों की।

1989

यों तो

यों तो खाली हाथ ही आया हूँ
पर अपने साथ लाया हूँ
अनेक अदृश्य जन्मान्तर,
घोंसले में प्रतीक्षा करती
चिड़िया की आँखों की चमक,
खण्डहरों में सदियों से गूँजते हुए
अँधेरे—

यों तो खाली हाथ आया हूँ
पर साथ ही आया है
आशा का एक जगमगाता महाद्वीप
धधकते मार्तण्ड की धूप के बगल में
अधगीत को गुनगुनाती हुई चाँदनी
और बरसात के ठीक बाद
वनराजि की हरीतिमा में
धीरे से खिलता एक शब्द—

मैं आया हूँ
जैसे आराधना के बीच जलती हुई दीपशिखा
जैसे थकी यात्रा में अप्रत्याशित पाथेय
जैसे सदियों से भटकती, ठौर पर
पहुँचती एक पुकार—

1989

हो सकता है

हो सकता है
भरी दोपहरी में मैं आऊँ—
खाली हाथ,
एक झोले में
कुछ अधजले सपने,
कुछ कभी न मिल पानेवाले ठिकानों के पते,
बहुत सारी चुप्पी और
थोड़े से शब्द लेकर—

अन्त के पहले का विषाद भी बाकी नहीं होगा।
और न ही बचे होंगे
एक एक कर छूटते गये सहारे।
बची नहीं होगी धीरज की धीरे-धीरे
बुझनेवाली लौ,
बहुत सारा अँधेरा
और उजाले का आखिरी निराश
उपहार लिये
मैं आऊँगा
तुम्हारे ही चौबारे—

1989

अंगीकार

जब वह अपने ओंठों पर
चुम्बन की प्रतीक्षा कर रही थी
वसन्त ने चुना स्पर्श के लिए
उसके बाँयें कुचाग्र को

जब वह अन्यमनस्क थी
उसके आर्द्र अँधेरे में प्रवेश किया
एक धधकते पुष्प की तरह
वसन्त ने

जब वह अपने लावण्य में
परिपक्व थी
उसके बखान में
ठिठका रह गया
एक शब्द की तरह
वसन्त

स्वीकार के बाद
चकित वसन्त ने
उसे किया बहुधा अंगीकार

1990

वह

चुम्बन में
आलिंगन में
मर्दन में
रमण में
पारंगत वह
रसभरी परिपक्व रूपाम्बरा।

फिर भी
झिझक भरी
संकोच भरी
लाज भरी
अबोध प्रिया है वह
रूपाभा से दमकती युवती वह।

1990

प्रणय या प्रणति

अपने श्यामल वैभव में
अपनी देह और यौवन के साथ अकेली वह
अपने ही अंगों की धूप में
तपती वह—
अब जब हँसी से
लज्जा से
विस्मय से झुकी है
तो किसे पता
प्रणय में या प्रणति में

1990

वह कैसे कहेगी

वह कैसे कहेगी हाँ—
हाँ कहेंगे
उसके अनुरक्त नेत्र
उसके उदग्र-उत्सुक कुचाग्र
उसकी देह की चकित धूप
उसके आर्द्र अधर
कहेंगे हाँ—
वह कैसे कहेगी हाँ ?

1990

सुख ने अपनी जगह बदली

जहाँ-जहाँ सुख है
उसके तन मे
उसके मन में
वहाँ-वहाँ
उसने उसे छुआ।

अपने अंगों से
अपनी देह से
अपने शब्दों से
अपने मन से।

छूने में सुख था
छुए जाने में सुख था
नहीं था अनछुए रहने
रहने देने में—
सुख ने अपनी जगह बदली
फिर भी वहीं रहा
जहाँ पहले था—
तन में, मन में।

1989

चटक विलसित

उस गहरे नीले अँधेरे में से
आलोक-स्फुरित होकर आने से पहले
एक दस्तक सुख के द्वार पर,
एक और थपथपाहट आलस्य-भरी
तृप्ति के उद्गम पर—

गौरैया फुदकती है
दो-तीन बार
अँधेरे पुष्प के उजले प्रस्फुटन के
बाद—

1990

कुछ नहीं हुआ

कुछ नहीं हुआ
जब स्वीकार हुआ।
सब कुछ रुक गया—
ढलकने के पहले आँसू
अथाह संगीत की झिझक
और लोगों के शोरगुल में फँसे
शब्द—
सब कुछ रुक गया
उसे होने देने के लिए

जब वह हुआ
कुछ नहीं हुआ
सिवाय उसके।

समय बहता रहा अविरल
नक्षत्रों का आलोक
दिगन्तों के पार रहा संपुजित
वनस्पतियाँ अपने हरे स्पन्दन में
वैसी ही रहीं उदग्र।

कुछ नहीं हुआ
जो किसी और ने जाना हो।

जो था हुआ
जो नहीं था हुआ
जो हुआ
वह कुछ नहीं था
सिवाय स्वीकार के—

1989

अलग-साथ समय

उसका समय
मेरे समय से अलग है—
जैसे उसका बचपन, उसकी गुड़ियाँ-चिड़ियाँ
यौवन आने की उसकी पहली सलज्ज पहचान अलग है।

उसकी आयु,
उसके एकान्त में उसका प्रस्फुटन,
उसकी इच्छाओं का सरस वसन्त
और उसके बिस्तर के पास
उठने की घण्टी बजाती घड़ी
उसका समय अलग है।

उसकी ऊब की दोपहर,
बारिश में भींगता
उसके दरवाज़े के पास का वृक्ष,
आकाश पर नहीं पड़ोस की दीवार पर खुलती
उसकी खिड़की का समय अलग है।

अपने समय को वह फर्श पर बिछाती है
आँचल की तरह कसती है अपने शरीर से
घुँघरू की तरह अपने पैरों से बाँधती है।

अपने समय से मैं उसे पुकारता हूँ
अपने समय से वह मुझे बुलाती है
हमारा समय अलग है
और साथ है।

1990

आयु का आश्चर्य

आयु छुएगी
उसके चेहरे को
और चुपके से उसके लम्बे बालों में से
एक को सफेद कर जायेगी—

उसकी बिंदिया के पास के तिल को और काला
गरदन के तिल को कुछ हलका
पर अछूता छोड़ जायेगी
उसके शरीर को—

थोड़ा और कत्थई कर जायेगी
उसके कुचाग्रों को,
उसके नितम्बों के वृत्तों को
थोड़ा सा वक्र,
उसके रहस्य को
थोड़ा और गहरा—

उसकी पीठ पर
उकसानेवाला हाथ धरेगी
और धीरे से वापस खींच लेगी।

प्रेम और राग के पहले
आयेगी उसे छूने आयु

और परिपक्व-युवा
छोड़
स्वयं चकित हो
आश्चर्य की तरह
उसके शरीर में समा जायेगी
और फिर बहुत देर तक नजर नहीं आयेगी।

1990

वही तो नहीं रहने देगा

प्रेम वही तो नहीं रहने देगा
उसके शरीर की लय को,
उसके लावण्य की आभा को
उसके नेत्रों के क्षितिज ताकते एकान्त को ?
प्रेम उसे बहुत हलके से छुएगा
जैसे हवा छूती है
उषा में जागते पलाश के फूल को
जैसे रात देर गये
चूमती है ओस की बूँदें
घास की हरी नोक को।

वह आश्चर्य से देखेगी
अपने बदलते हुए आस-पास को
चीज़ों की आपसी कानाफूसी
और उनके बीच दबी-छुपी हँसी को—
धीरे-धीरे तपेगी उसकी देह
सुख की हलकी आँच में—
प्रेम उसके पास आयेगा
नींद की तरह, सपने की तरह
फूलों और चिड़ियों की तरह
गरमाहट-भरे संग-साथ की तरह

ज़ाड़ों में गरम रोटी और दूध
की तरह—
प्रेम वहीं तो नहीं छोड़ेगा
उसे।

प्रेम वही तो नहीं रहने देगा
उसके अकेलेपन को
भर देगा गुनगुनाहट और हरियाली से
अबोध रूपगर्व से—
उसे—

1989

स्थगित नहीं होगा शब्द

स्थगित नहीं होगा शब्द—
घुप्प अँधेरे में
चकाचौंध में
बेतहाशा बारिश में
चलता रहेगा
प्रेम की तरह,
प्राचीन मंदिर में
सदियों पहले की व्याप्त प्रार्थना की तरह—
स्थगित नहीं होगा शब्द—
मौन की ओट हो जाएगा शब्द
नीरव प्रतीक्षा करेगा शब्द
धीरज में धँसा रहेगा शब्द।

उसके देह की द्युति सा
उसके चेहरे की आभा सा
उसके नेत्रों के चकित आश्चर्य सा
अन्तरिक्ष में
गुनगुनाता रहेगा शब्द
स्थगित नहीं होगा।

1989

रूपक

तुम मेरा रूपक हो
वह शब्द
जो मुझे मुक्त करता है
अपने जन्म, अपनी मृत्यु से—
देवता उठाते हैं रूपक
और ले जाते हैं
अपने दिव्य शब्दकोष में।
अपनी पृथ्वी पर
हम बचे रहते हैं
अर्थ की तरह दग्ध और दीप्त
और भाषा के विन्यास में
अकेले।

1989

शेष

सब कुछ बीत जाने के बाद
बचा रहेगा प्रेम
केलि के बाद शय्या में पड़ गयी सलवटों सा,
मृत्यु के बाद द्रव्य स्मरण सा,
अश्वारोहियों से रौंदे जाने के बाद
हरियाली ओढे दुबकी पड़ी धरती सा
गरमियों में सूख गये झरने की चट्टानों के बीच
जड़ों में धँसी नमी सा
बचा रहेगा
अन्त में भी
प्रेम !

1990

अगर हमारे साथ सूर्य हो

हम चढ़ेंगे
बिना फिसले
काई-ढँकी सीढ़ियों पर
एक प्राचीन मंदिर की
अगर हमारे साथ सूर्य हो—

हम भर देंगे
मथेंगे
आर्द्र गहरा अँधेरा
अपने ज्वलन्त उदग्र पुष्प से
अगर हमारे साथ सूर्य हो—

हमारे साथ सूर्य हो
तो हम उतर जायेंगे
हिमशिखरों के पार
हरीतिमा और उल्लास की
घाटियों में
अपनी पीठ पर लादे हुए
जिजीविषा और
सुन्दर, सहज और निश्छल
रहने की बेचैनी
अगर हमारे साथ सूर्य हो—

1990

अवकाश

रात देर गये

रात देर गये
मैं ईश्वर की मेज साफ करूँगा
बूढ़े निर्विकार वे बैठे होंगे
मैं उनसे पूछूँगा कि
खाने के बाद काफी पियेंगे ?

रात के और गाहक
जा रहे होंगे,
मेरे सिवाय उन्हें
कोई नहीं पहचान पायेगा।

शोर, आपाधापी
बर्तनों की आवाजें, फुसफुसाहटें
सब थम चुके होंगे
सिर्फ पुराने फिल्मी गाने बज रहे होंगे
जब वे न जाने कहाँ से आयेंगे।

मैं रसोइये को भी नहीं बताऊँगा
उन्हें वही खिलाऊँगा
जो सबके लिए बनता है।

वे चटोरे नहीं होंगे
और खाना बनाने का उन्हें
कोई अभ्यास नहीं होगा

न वे ढाबे की उस कोने की मेज़ का
बुरा मानेंगे
आख़िर उन्हें संसार बनाने-बिगाड़ने का
अनुभव है,
मेज़ या खाना जैसी चीज़ों का नहीं !

मैं मौका पाकर
जब वे उदास से लग रहे होंगे
उनसे गप लगाने की कोशिश करूँगा :
मैं उन्हें शहर के किस्से बताऊँगा—
उनसे पूछूँगा संसार का हाल और
देवताओं की दुष्टताओं, नक्षत्रों के कक्षाओं से बहकने,
प्रलय की तैयारी,
स्वर्ग की नीरसता आदि के बारे में।

मैं उन्हें अगले दिन
थोड़ा जल्दी आने की
बिनमाँगी सलाह भी दूँगा

वे जब चले जायेंगे
तो एक बार फिर
उनकी मेज़ साफ करूँगा।

1990

अगर

अगर उसका नम्बर याद रहा
और मौसम बहुत खराब न हुआ तो
एक दिन
मैं अपने सपने को
फोन करूँगा—
पूछूँगा उसका हालचाल
उसका समय
पूछूँगा कि कहाँ रहता है
इन दिनों
और इधर कब आने का इरादा है
यह भी पूछूँगा कि वहाँ
चीजें कैसी हैं, दाम तो बहुत नहीं बढ़े,
कोई तकलीफ तो नहीं है
मकान बनाया या नहीं।

हो सकता है सपना भूल चुका हो मुझे—
मैं उसे याद दिलाऊँगा
कि कैसे हम पुलिया पर बैठकर
गप लगाते थे,
कि कैसे हमने साथ-साथ चाय पी थी,
कविताएँ लिखीं और प्रेम किया था।
शायद सपना पहचानकर कहे

मैं कितना बदल गया हूँ
कम से कम मेरी आवाज़
मैं उसे कभी खाने पर आने का
निमंत्रण दूँगा।

एक दिन—

1990

उद्दण्ड समय के यहाँ

मैं कोई भी नम्बर
किसी भी शहर में क्यों न
डायल करूँ
लग जाता है वह
हमारे इसी उद्दण्ड समय के यहाँ।

कड़कती या मुलायम आवाज़ में
मुझे अपनी तुच्छता का लगातार अहसास कराता हुआ
यह समय बताता है कि
एक और जंजीर तैयार है
हम जैसों के लिए।

वह
अपनी कई सी आवाज़ों में
मुझसे यों बोलता है
जैसे मुझे व्यक्तिगत रूप से
जानता हो
जैसे मेरा पुराना स्कूल का सहपाठी
या कालेज के दिनों का रक़ीब हो
हालाँकि मुझे याद नहीं आता
उसका चेहरा या आकृति।

अब जब संभव नहीं रह गया है

मौन रह कर बचा पाना
थोड़े में सिमटी रह गयी पवित्रता
(जैसे किसी दिवंगत बुजुर्ग का आले में धरा रह गया पुराना चश्मा)
जब शब्द लहूलुहान और कीचड़ में सने बिना रह नहीं सकते
तब यह उम्मीद क्यों है
कि एक दिन
फोन लग जायेगा
काल के यहाँ
और प्रार्थना जैसी सहजता से
ये शब्द
यह बची रह गयी पवित्रता उसकी झोली में
चले जायेंगे
मानो
अमरता की गोधूलि में ?

1990

देवता लौटते हैं गोधूलि में

दिन भर
जंगलों में भटकने के बाद
बीच में पड़नेवाले वृक्षों पर थमकर
सुस्ताते हुए लौटते हैं तोते
अपने बसेरों में—

भाषा में लौटते हैं
सदियों से गुम हो गये
प्राचीन शब्द—

बूढ़ों के पास आती हैं
हैरान वीरगाथाएँ
बच्चे हाथों में फूल लिये
और जवान गाते हुए आजादी के पुराने गीत
इतिहास के निर्दय अँधेरे में
खोज पा रहे हैं
भविष्य का एक रोशन गलियारा—

शताब्दी उठाती है
बिसरा दी गयी भूलों का गट्ठर
और अपने खूनसने हाथों से माँगती है

जवाब—
समय उतारता है
अपने लबादे
और दिगम्बर निहत्थे क्षण में
देवता लौटते हैं
गोधूलि में।

1990

एक दिन

एक दिन ऐसा शब्द आयेगा
जो पहले कभी नहीं था
कहीं भी—
न कविता में, न कथा मे
न कोष में, न किसी के मन मे।
वह आयेगा सामने की गली से
पेड़ों की झुरमुट से
छाँह में सुस्ताकर पर
धूप में तमतमाते हुए।

वह सामने के दरवाज़े से आयेगा
और बिना घंटी बजाये प्रतीक्षा में
खड़ा रहेगा
और फिर पेड़ के नीचे घास पर चुपचाप
बैठ जायेगा।

समय उसे घेरेगा,
हवा की तरह,
पर पकड़ नहीं पायेगा।

पास के नलके से
वह थोड़ा सा पानी पियेगा

और अपने खाली झोले को टटोलेगा।
फिर अचानक उसे कोई पीछे से
पुकारेगा—
फिर उस पर एक साथ गिरेगी धूप और ओस,
फिर उसे मिलेगा हरियाला विन्यास
वह उठेगा
और
आश्चर्य की तरह
वापस चला जायेगा
एक दिन ऐसा शब्द आयेगा
जो थोड़ी देर रुककर
वापस चला जायेगा।

1990

देवता

अठारह सौ उन्तीस की किसी तारीख को
सबसे पहले
पत्थर के एक बड़े टुकड़े को
सिन्दूर में रँगकर
बनाया गया था देवता—

उसके बाद से
गढ़ी सेमरा से सौरई के रास्ते
दक्षिण की ओर
आम के पुराने पेड़ और
एक सूखी बावड़ी के पास
एक पत्थर घिसता रहा है
देवता बने-बने—

पत्थर की स्मृति नहीं होती
पर देवता बेचारे की याद है
कि डाकू मलखान सिंह ने
अपनी अट्ठाइसवीं डकैती में
हथियाया माल उसी के पास
बैठकर नबेरा था
और दो सोनबुन्दे वह
छोड़ गया था देवता के पास

जिन्हें पुजारी रामपूजन ने
अगली सुबह ही
अपनी तेज नज़र से खोज लिया था
और कुछ दिनों बाद
बवरी चमारिन के
पेट रह जाने की खबर के बाद
उसे चुपके से थमा दिया था—

—आजादी के बहुत पहले
कबरी गैया यहीं आकर सुस्ताती थी
और यहीं से एक दिन
कसाई उसे हाँक ले गया था
लछमन को पैसे देने के बाद।

—देवता के नज़दीक ही
उस दिन लाज से ठिठकी थी
वह अल्हड ग्रामबाला
आम्रमंजरी की गंध से सुवासित
और यहीं आकर
उस कानी बुढ़िया ने अपने नाती की
नौकरी लगने पर मनौती मानी थी।

उधर शिवरात्रि पर
मेले में जाती हुई भीड़
गुजरती है उसी दर्रे से
देवता को लगभग भूलते हुए
बड़े देवता की भक्ति से सराबोर
और उसी वक्त
सालों के कचरे से ऊपर आ जाता है
कैप्टेन कम्बरलैण्ड का फेंका हुआ
पुराना विक्टोरियन टूथब्रश
जो उसने उन्नीसवीं सदी के
किसी दिन
घोड़े पर जाते हुए इधर फेंका था।

कभी-कभार गौरैया
फुदक बैठती है पत्थर पर
देवता पर
गिरती है धूप
या बारिश
या गोधूलि का उजास
पत्थर देखता है देवता को
देवता देखता है पत्थर को
दोनों को नहीं देखते
आम का पेड़ या पुरानी बावड़ी
या कीचड़ भरा ढर्रा
सिर्फ लोग
फीके पड़ गये सिन्दूर के बावजूद
पत्थर की बजाय
देवता को ही देखते हैं
धीरे-धीरे
उदास ओझल होते हुए।

1990

शब्द कविप्रिया शताब्दी

जड़ें धूप
मधुमक्खियों के छत्ते लगे पेड़ के नीचे
पिट्ठू का खेल खेलती दो लड़कियाँ
सिनेमाई संगीत के कनफोड़ शोर के बीच
छोटे बच्चे को बीजगणित सिखाता अधेड़
रात को चुपके से एक पुस्तक से निकलकर
दूसरी पुस्तक के सोये हुए वाक्यों को जगाकर
वापस आ गया शरारती शब्द

जड़ें धूप पतझर की पीली पत्तियाँ
चट्टान की खोह में जमा बैठा नदीजल
पंखे के ऊपर तीलियाँ और चिन्दियों से
घोंसला न बना पानेवाली गौरैया
वसन्त से भी बचाये हुए अपना परिपक्व यौवन
कविप्रिया

जड़ें धूप पतझर पलाश के अनुरक्त अधर
घुँघरू में अटक गये धागे का टुकड़ा
अनन्त में भटकते प्राचीन स्वप्न का अकस्मात् गिरा शिलाखण्ड
अपने ही दुर्गों के पत्थरों के नीचे दबदे आततायी
घास के पास अपने हश्र पर बिसूरती
शताब्दी

1990

सिर्फ इतनी उम्मीद ?

घर मालकिन द्वारा
निर्ममता से हटाये जाने के पहले
चिड़िया के घोंसले में दुबके बच्चे उड़ने लायक
हो गये होंगे—

जूते के नीचे कुचले जाने से पहले
चींटी सौंप चुकी होगी
अपना अन्न का कण
कतार में चल रही अगली चींटी को—

बर्बर हत्यारों द्वारा
धन के लालच में मारे जाने के पहले
अधेड़ स्त्री भेज चुकी होगी
अपने प्रेमपत्र और कच्ची कविताएँ
पहाड़ों में बस गये
अपने संन्यासी बालसखा को—

क्या सिर्फ इतनी उम्मीद करना
भर काफी है
शताब्दी के इस मुकाम पर—
जब वह एक यातना तपे चेहरेवाली बुढ़िया की तरह
अपने ही मलबे से
बीन-बीनकर उठा रही है—
अपने नसों-उभरे हाथों से

साबुत ईंटें, पुरानी लकड़ियों के फ्रेम
अनटूटे काँच और साँकलें
फिर बनाने-बसाने के लिए
एक नया खुला भरापूरा घर ?

1990

कितना बजा है ?

कितना बजा है
पूछता है सत्रहवीं शताब्दी के अँधेरे में
बुर्ज पर खड़ा एक चौकीदार
अपनी लालटेन की कम होती रोशनी में—
किसी यहूदी कवि की रचनाओं का
अनुवाद करने की कोशिश में बेहाल
भारी फ्रेम के चश्मेवाली लड़की पूछती है,
मानो किसी प्राचीन ग्रंथ के
सर्वज्ञ नायक से
कितना बजा है—

थककर चूर हुआ दुर्दान्त बूढ़ा देवता
जम्हाई लेता हुआ
चीखता है शून्य में
कितना बजा है—

कुँजड़िनों के झगड़ों से त्रस्त
और अपनी स्कूली पुस्तकें कहीं न पाने में दुखी
छतों की दूकान के सामने
पैसे न होने के बावजूद ललचाता हुआ एक बच्चा
जानना चाहता है एक मुस्तण्ड खरीददार से
कितना बजा है—

अपने जीवन की धुंध से घिरा
बचपन के मुबहम होते जाते चेहरों को
खोने के पहले याद करता हुआ
रक्त के मौन में कहीं
दूर से आ रही पुकार सुनता हुआ
मैं इसी अधबनी कविता से पूछता हूँ
कितना बजा है ?

1990

बोझ से कविता

कंकड़ों और सूखी पत्तियों से ढँकी ज़मीन पर
धीरे-धीरे फुदकता
और कीड़े बीनता है एक पक्षी

जंगल के सुनसान में
आवाज़ देता पक्षियों का एक झुण्ड उड़ता है
एक छोर से दूसरे की ओर

झरने के पास
हरी बेलबूटियों से सजे हिस्से पर
थककर सोता है लकड़हारा

नीचे तलहटी में नदी के किनारे चुपचाप
पानी पीने उतरता है एक सिंह

बगल से गुज़रती शहर की ओर भागती सड़क पर
किसी ट्रक से टपके तेल के चकत्ते पर
चमकती हैं पानी की बूँदें

मुहल्ले के पुराने मंदिर के अँधेरे कोने में
छुपाकर रखती है एक ग़रीब बच्ची
अपनी चोरी से लायी मिठाई—

भींगी सीढ़ियों पर गुमसुम बैठा एक आदमी
अपनी निर्मल आँखों से

ताकता है बँसवट में गुम होते कुत्ते को

हम अपनी अधेड़
और जल्दी ही कुछ और झुक जानेवाली पीठ पर
लादे चल रहे हैं एक बेताले की संदूक
जमाने का अंगड़-खंगड़ भरे हुए

अब जब सुस्ताने बैठे
इस बोझ के बारे में सोच रहे हैं
तो लग रहा है
कि कविता कर रहे हैं।

1990

यह समय है

उन्मत्त भीड़ के रेलपेल से
पीछे छूटकर
अपने हाथों में थमाये झंडों को चुपचाप
किनारे रखकर
अपनी झोली में बचे सपनों और प्रेम को
टटोलते हुए
किसी सड़क किनारे की बेंच पर बैठकर
सुस्ताने या पीछे हटने का नहीं
ठिठकने का समय है—

फिर आ रही है हल्ले की एक और लहर
और यह शताब्दी
शब्दों और सपनों के अर्थ बदल रही है
बदल रही हैं पोशाकें, पताकाएँ, गालियाँ
हथियार और हरकारे
यह शामिल होने से ज्यादा
घिरती शाम की बची-खुची रोशनी में
अपनी खिड़की पर थमने और
अँधेरे में डूबते क्षितिज को
एक बार फिर देखने का समय है—

यह अधेड़ों की मण्डली में
चुटकुले सुनाकर समय काटने से,
यह बूढ़ों की कोसती-झींखती जमात को
किसी तरह बरदाश्त करने के लालच से बचने का

समय है—

यह बच्चों के सरल संसार से
सपने चुराकर अपनी झोली में रखने का,
यह अपने खुरदरे हाथों को
अपने लहूलुहान शब्दों को
आँखों में पानी की आखिरी लकीर की तरह
बाक़ी उम्मीद को
सहेजने का समय है—

1990

खिड़की से सब कुछ नहीं

खिड़की से सब कुछ नहीं दीखेगा
दिखेंगे पेड़ और उन पर फुदकती चिड़ियाँ
पर ठूँठ में दुबके पड़े कीड़े नहीं दीखेंगे
न ही अँधेरे में विकल जड़ें—
दिखेंगे सड़क पर इधर-उधर जाते लोग
उनके रंगबिरंगे कपड़े और कभी-कभार उनके चेहरे-मोहरे भी
पर नहीं दिखेगा उनका रोष और प्रेम और लालच
उदासी और अकुलाहट दिखेगी
नहीं दिखेगा धीरे-धीरे अपने को
निरी चीज़ों में बदल जाने का उनका प्रतिरोध—

खिड़की के पार नहीं दीखेंगे
अन्तरिक्ष पर खड़े ईर्ष्यालु देवता
और दिव्यता की तलाश में भटकते शब्द।

1989

शताब्दी से बेखबर बूढ़ा

शताब्दी और उसके बीतने से बेखबर
एक बूढ़ा कुरसी डालकर पेड़ के नीचे
आराम से पढ़ता है एक पुराना अखबार—
शोर मचाते बच्चे खेलते हैं पास ही
लुका-छिपी का पुराना खेल,
एक गिलहरी कुरसी के बहुत पास पहुँचकर
फुदकती हुई भाग जाती है,
चींटों की एक कतार थोड़ी दूर से
बिना उसे देखे गुजरती रहती है,
थोड़ी देर के लिए
घरवाले भी भूल जाते हैं कि वह है
और वहाँ धूप में कुरसी पर बैठा है।

सूखी पत्तियाँ गिरती हैं
गिरता है समय
गिरती है धीरे-धीरे
पीली पड़ती धूप।

अपने अँधेरों और झिलमिल उजालों के साथ
एक-थकी-माँदी बुढ़िया की तरह आती है आयु
और सुस्ताने बैठती है पास के चबूतरे पर
बिना पहचाने और बेरुखी से
बूढ़ा देखता है
जैसे उसे उससे कुछ लेना-देना न हो।
मुहल्ले की एक नटखट बच्ची आती है

अचरज और चाव से देखती, हैरान होती है
दो बूढ़े खिलौनों को
और ताली बजाते हुए भाग जाती है।

फिर आती हैं रोज़मर्रा की आवाज़ें
झंझट और आपाधापी की
खोने-पाने की, रोने-हँसने की
और समूचे दृश्य को
मानो स्लेटपट्टी से पोंछ कर
चली जाती है।

1990

वह बूढ़ा मुसलमान

भोर हो चुकी होती है—
सुबह घूमने वाले आधा रास्ता पार कर चुके होते हैं,
तब नयी कालोनी के किसी दफ्तर की
रात भर चौकीदारी करने के बाद
वह बूढ़ा मुसलमान
अपनी सफेद दाढ़ी और यातना से तपा चेहरा लिये
आता है,
और ढाल पर बिछे उस बोगनबेलिया के बगीचे को
पार करते हुए
पुराने शहर की ओर उतर जाता है।

एक देवता की तरह निस्संग और निःस्पृह
वह अपनी समूची जिन्दगी और उसके सुख-दुखों को
पान की पोटली की तरह
एक छोटी सी झोली में डाले हुए,
हर रोज़ जाता है
किसी जनाकीर्ण मुहल्ले के धीरे-धीरे ढहते घर की ओर।

वह किसे देखता है और किसे नहीं
यह कहना मुश्किल है—
उसके चेहरे पर मुतमईन होने का भाव होता है
कि उसने रात की चौकीदारी ठीक से पूरी की।

वह बगीचे के घुमावदार रास्तों पर नहीं
खुद अपनी बनायी पगडण्डी पर चुपचाप चलता जाता है—
उसके पास शायद नहीं है शहर की वारदातों की खबर,

तन्दुरुस्ती बनाये रखने के लिए
सुबह-सुबह चिकनी-चुपड़ी सड़कों पर घूमते
खाये-पिये लोगों की खबर,
चिड़ियों-पक्षियों, सूखी पत्तियों, रात की नमी और
पंखुरियों के एक चकत्ते पर सोयी आदिवासी मजदूरिन की खबर—
पर कभी-कभार वह सिर ऐसे झटक ऊपर देखता है आसमान की तरफ
मानो किसी बूढ़े ईश्वर की तरफ
जैसे उसे हर हालत में अपने आदमी होने की पूरी खबर है।

1990

मुक्ति

सबसे सुन्दर और भयानक बात यही थी
कि शब्द का अर्थ शब्द ही थे। या कि हैं।

प्यास

मैंने सोचा अँधेरे में गिलास होगा। अँधेरे में प्यास गिलास का आकार ले लेती है। अँधेरे में प्यास लगी थी तो अँधेरे में ही पानी होगा ऐसा गिलास होने के बारे में सोचने के पहले सोचा। अँधेरे में सब गड्डमड्ड हो जाता है : प्यास, पानी और गिलास और इन सबके ऊपर अँधेरा। या कि अँधेरा और प्यास, फिर पानी और अँधेरा, फिर गिलास और अँधेरा, फिर हाथ और गिलास और अँधेरा, फिर हाथ, गिलास, पानी, प्यास और अँधेरा। या कि सिर्फ अँधेरा—प्यास, गिलास, पानी और हाथ में रूप लेता हुआ। या फिर यह सब भी कहाँ : सिर्फ अँधेरा एक शब्द गिलास की तरह पानी से भरा हुआ और हाथ से प्यास तक पहुँचता हुआ। सिर्फ एक शब्द—भरा हुआ नहीं खाली, भरे जाने के लिए—अँधेरे या प्यास या पानी से।

1990

रोशनी

रोशनी में डर लग रहा था। रोशनी से नहीं, इतना अधिक रोशन हो जाने से। घबराहट यह भी कि कहीं रोशनी होकर डर दूसरों को सुन्दर न लगने लगता हो। रोशनी बाहर थी : डर के अन्दर नहीं। इसीलिए उस पर भरोसा नहीं था। अपनी थी भी नहीं। उनकी, उम्मीद है रही होगी। वह सिर्फ डर पर नहीं और बहुत सारी चीजों पर पड़ रही थी—कोई संयोजन नहीं था। पर चीजों का, जिन पर वह थी और जिन पर वह नहीं थी, एक विन्यास अकस्मात् बन गया था जिनमें डर भी था—एक सिलसिले में पर अलग-थलग भी, थिगड़े जैसा, धब्बे जैसा पर, दुर्भाग्य से, चकाचौंध में। डर रोशनी में घुलमिल नहीं जाता। वह बच्चा, जिसे उस रोशनी से वैसे नहीं गुजरना था, न जाने कहाँ से वहाँ आ गया और बिना ठिठके उस रोशनी में से, उस डर के बगल से ऐसे गुजर गया जैसे उनका वहाँ होना वैसा ही स्वाभाविक और नियत था जैसा कि उस सड़क का या उसके हाथ में फँसे खिलौनों का। रोशनी को डर लगता रहा। डर को रोशनी लगती रही। बच्चा, जो रोशनी और डर के विन्यास में शामिल नहीं था, चला गया तो जो बचा वह भी चला गया, छूटा नहीं।

1990

दरवाजा

दरवाजा खुल सकता था। कोई खोले तभी नहीं। अपने आप भी, क्योंकि पूरी तरह बन्द नहीं था। किसी ने किया ही नहीं। सबको जाने की जल्दी होती है, ठीक से बन्द करने की नहीं। जाने के बाद दरवाजा भुला दिया जाता है। अगर न जाते और वहीं बन्द या घिरे रहते तो दरवाजा बना रहता—उसका ख्याल रहता। दरवाजा : घिरे हुए को रोकता है और अनघिरे हुए को अन्दर आने से थामता है। दरवाजा न हो तो घिरा-अनघिरा गड्डमड्ड हो जाये। आवाजाही दरवाजे से होती है : पर फिर भी थोड़ा सा बाहर अन्दर और थोड़ा सा अन्दर बाहर फिसल ही जाता है क्योंकि दरवाजा कभी पूरी तरह से बन्द नहीं होता। हम ऐसा करना जानबूझकर भूल जाते हैं।

1990

चिड़िया

चिड़िया कब डाल पर आकर बैठी देखा नहीं। सब कुछ, आँखें रहते भी, कहाँ देखते हैं? देखा तब जब डाल पर चिड़िया आकर बैठ गयी। अलग से न डाल देखी, न चिड़िया। अगर वह चिड़िया उस डाल पर न बैठती तो न वह डाल देखते, न वह चिड़िया। देखी तो डाल पर चिड़िया, वह चिड़िया उस डाल पर उस क्षण, वहाँ से, पर नहीं देख पाये वे आँखें जिन्होंने यह सब देखा। जो देखता है अपने को नहीं देख पाता। देखना दूसरे को देखना है, अपने को नहीं। पर नहीं देखीं असंख्य डालें, उन पर बैठीं-न-बैठीं असंख्य चिड़ियाँ। आँखों को पता है वे क्या देखती हैं, इसकी खबर नहीं कि क्या-क्या नहीं देखती हैं। देख नहीं पातीं। देख नहीं सकतीं। देखना नहीं चाहतीं।

1990

अनादि-अनन्त

एक था अनादि, एक था अनन्त। अनादि को शुरू में रहना पसन्द नहीं था, अनन्त को आखिर में। पर अगर शुरू न हो तो आखिर नहीं हो सकता था। बीच का मामला उलझा हुआ था : शुरू न हो, आखिर न हो तो बीच कैसे कहाँ हो ? होना सब चाहते थे पर कहाँ यह तय नहीं हो पा रहा था। एक बार अनादि ने सोचा कि जो अनादि है वही तो अनन्त होगा। अनन्त को लगा कि जो अनन्त है वही तो अनादि होगा। दूसरे की जरूरत नहीं जान पड़ती हरेक को ऐसा लगा। पर दूसरा न हो तो पहला कैसे हो ? यह सिर्फ संख्या का तर्क नहीं था। बीच की वैसी ही दुर्गति थी : उसे दोनों नहीं पूछते थे। एक दिन अनादि और अनन्त ने सोचा, ऊबकर कि छुकछुक गाड़ी का खेल खेलें : एक दूसरे के पीछे हो लिया और वे गोल घूमने लगे—तब से अनादि के पीछे अनन्त के पीछे अनादि के पीछे अनन्त के पीछे अनादि के पीछे अनन्त खेल रहे हैं, अपनी ठीकठीक जगह न हो पाने की ऊब मिटाने के लिए।

1990

पीछे-आगे

कोई पीछे आ रहा था। आ नहीं रहा था पर लग रहा था कि आ रहा है। जरूरी बात है लगना, आना नहीं। आगेवाले को देखकर या महसूस कर कि कोई आगे है, डर नहीं लगता। पीछेवाले से लगता है। पता नहीं होता कि आगे कौन है, कैसा है, क्यों है पर फिर भी आश्वस्ति होती है कि आगे है और पलटकर शायद ही हमला करे। कर भी दे तो उसे पलटते देखने का और उसके हमले के लिए तैयार होने का, उसे जवाब देने का समय और अवसर होगा। पर पीछेवाले का भरोसा नहीं किया जा सकता। कौन जाने वह सिर्फ धर दबोचने के लिए ही पीछे चल रहा हो। वह अचानक कुछ कर बैठे तो सम्हलने या प्रतिरोध करने का समय ही नहीं मिलेगा। आगेवाले से यह उम्मीद भी होती है कि वह रास्ता जानता होगा, उसके खतरों से परिचित होगा। पर इसी से तो डर लगता है कि पीछेवाला आगेवाले से उम्मीद करता है जबकि आगेवाला पीछेवाले से डरता है। उम्मीद से डर और डर से उम्मीद और तुर्रा यह कि ऐसे ही रास्ता कट जाता है, हम कहीं पहुँचें या न पहुँचें।

1990

दीवार पर शब्द

दीवार पर कुछ लिखा था। नारा या मंत्र या गाली, क्या फर्क पड़ता है ? क्योंकि थे तो शब्द ही। कोई निजी सन्देश नहीं। बल्कि सबके लिए। लेकिन सब वहाँ से गुज़रते हुए उन्हें पढ़ते नहीं थे। कई बार तो वह खोंचेवाला भी नहीं जो उसी दीवार के सहारे बैठकर मूँगफली बेचता था। दीवार पर धूमिल होते हुए शब्द और उनसे लापरवाह गुज़रते लोग और उनके ठीक नीचे आराम से बैठा खोंचेवाला। पोथी, शिलालेख, पुस्तकों और अखबारों में रहनेवाले शब्दों को यह अटपटा, मगर, नहीं लगा। उन्हें किसी भी अवकाश में फेंक या लिख दिये जाने का अभ्यास था। वे अक्षर थे। मिटते जाते अक्षर। उनका अर्थ उनमें नहीं था जैसे कि मूँगफली के छिलके के अन्दर दाने होते हैं। उन्हें फोड़ो या चटकाओ तो अर्थ नहीं, और शब्द निकलते थे। सबसे सुन्दर और भयानक बात यही थी, उस दीवार की इबारत के सिलसिले में, कि शब्द का अर्थ शब्द ही थे। या कि हैं।

1990

सुबह

सुबह थी। उजाले, हलकी सुगबुगाहट और जागरण के साथ। पर सबके लिए नहीं। घूमनेवाले अधेड़ों, स्कूल जानेवाले बच्चों के लिए थी : चिड़ियों-तोतों के लिए थी और शायद दूर तक फैली हुई हरियाली के लिए। वनस्पतियों और वृक्षों को भी शायद पता था कि सुबह हो गयी है। पर मेज़ को, गिलासों-तश्तरियों को, कागज़ों के पुलिन्दों और गरम मसालों को कहाँ पता था कि सुबह है। उन्हें कभी पता नहीं चलता। अचार को कोई नहीं बताता कि सुबह हो गयी है और उसे कुछ करना चाहिये—उदाहरण के लिए कुछ देर तेल-नमक से बाहर घूम आना चाहिये। मिट्टी के गहरे अँधेरे में डूबी जड़ें नहीं जान पातीं कि ऊपर-बाहर धूप खिल रही है। सुबह सबकी सुबह नहीं है : कुछ के लिए कभी सुबह नहीं है। कुछ के लिए कोई सुबह नहीं है। समय भी सबके लिए नहीं है। कुछ समय के घेरे से ऐसे बाहर पड़े रहते हैं जैसे हों ही न। या कि समय ही न हो।

1990

खेल

जानने का खेल पुराना है और न जानने का खेल भी उतना ही पुराना है। कुछ ने पहला खेल शुरू किया तो बाक़ी कुछ ने दूसरा। कोई भी खेल दूसरे किसी खेल के जवाब में नहीं होता। फिर एक कठिनाई भी है। कोई भी खेल अपने से बाहर किसी उद्देश्य के लिए नहीं हो पाता। जानने का खेल अपने से बाहर कुछ जान नहीं पाया। न जानने के खेल का भी यही हश्र होता रहा। दोनों के खिलाड़ी और पाली, मैदान और दर्शक बदलते रहे है। असल में खिलाड़ी पुराने पड़ते जाते हैं, कुछ नियम भी घिस जाते हैं पर खेल पुराना नही पड़ता। जो जानने का खेल खेलता है उसे मालूम होता है कि न जानने का भी खेल खेल सकता है और इसका उलट भी उतना ही सही है। जो जानने और न जानने के दोनों ही खेलों से अलग फेंस पर बैठे ताकते रहते हैं या भूलेभटके इस या उस खेल के नजदीक आ जाते हैं उन्हें दोनों ही खेल दूर से अच्छे लगते हैं : जानने का और न जानने का। उनका सुख इसमे होता है कि उन्हें स्वयं खेलना नहीं, बल्कि दूर से खेल का मज़ा भर उठाना पड़ रहा है।

1990

बच्चे

दो छोटे बच्चे थे, स्कूल जाते हुए, अपने बस्ते लादे और पोशाक में। उस भीड़-भाड़ वाली सड़क पर एक-दूसरे को सहारा देते हुए। वे अभ्यस्त थे बिना किसी अघट के हुए। उस समय सड़क पर अक्सर भागदौड़ होती थी स्कूलों को बच्चे पहुँचानेवाली गाड़ियों और डिपो से दूध ले जानेवाले नौकरों की। पता नहीं कहाँ से उस सड़क के उस मुकाम की ओर एक दुर्घटना चुपचाप चल रही थी कई दिनों से। कोई नहीं जानता कि उसने यही सड़क, यही क्षण क्यों चुन रखे थे और फिर वही दो बच्चे। जब वह आयी तो उन दो के बगल से बालबाल बचती हुई निकल गयी और फिर उस पेड़ को घेरे बम्बे से टकरायी और इतनी जोर से उछली कि कोई चीज एक और दूसरे के ठीक बीच गिरी। छपाक से। दोनों चीखे और दोनों ने पाया कि उन्हें कुछ नहीं हुआ सिवाय इसके कि उनके सामने वह हुआ जो उनकी उमर के योग्य न था। वे अभी न जानते तो बेहतर था। पर जब जान ही गये तो उनके गरीबी से अनाहत बालचेहरों पर अगले दिन भय या आशंका की कोई छाया नहीं थी। उनकी गरीबी के अनुभव ने उन्हें पहले से उनके अबोधपन के बावजूद उन्हें इसके लिए तैयार कर रखा था। उन्हें बड़े होने पर पता चला कि गरीबी बहुत सारे अमंगलों से निपटने की अबोध सी तैयारी भी है।

1990

चमकतार

खिड़की से बाहर अँधेरा था। अगर बरसों पहले बीना-कटनी पैसेंजर के थर्ड क्लास के डिब्बे में बैठा, सुबह हो रही हलकी सी रोशनी में गिरती बारिश को ताकता हुआ किसान होता तो बुन्देली में कहता : कैसा चमकतार बरस रहा है। पता नहीं यह शब्द, यह चमकते तारों से बना शब्द, पहले था भी या नहीं। उस किसान ने अनायास ही उसे गढ़ दिया और उस सुबह की दहलीज पर छोड़ दिया। उसके पास और काम था। उसे कहीं जाना था। अपनी बाक़ी ज़िन्दगी बिताना थी। शब्द युवा कवि को, जो संयोग से उसी डब्बे में बैठा छुट्टियों में अपने घर जा रहा था, मिला। वह उसे दो-तीन कविताओं में ले गया। पहली बार तो बनारस के जानकार प्रूफरीडर ने उसे सुधारकर चमकतार से चमकदार कर दिया और मन ही मन नये कवियों के हिज्जे तक ठीक न आने पर तरस खाया। रेल के भागते डिब्बे से दो कविताओं और प्रेस के अँधेरे कमरों तक वह शब्द, बुन्देली का, खड़ी बोली में पहुँचा और रम गया। कोश तक उसे कोई नहीं ले गया और उसे पता भी नहीं था कि कविता के पहले कोश में जाना चाहिये।

बहरहाल, खिड़की के बाहर अन्धकार था। लीजिए, वह छूट गया इस सपाट गद्य से हालाँकि वहीं जन्मा था।

खिड़की के बाहर चमकतार अँधेरा था। है। हो सकता है।

1990

पुलिया पर दो आदमी

पुलिया पर दो आदमी बैठे थे। एक बीड़ी सुलगाये था और दूसरा हाथ हिलाकर कुछ कह रहा था। पुलिया के नीचे घास थी और उस पर से एक छोटा सा नाला बह रहा था। उसमें पानी था और कुछ कीड़े-मकोड़े भी थे : कुछ तैरते हुए और कुछ किनारे बिचरते हुए। इन दो को इन सबकी न खबर थी, न परवाह। वे तो बैठकर सुस्ता और बतिया रहे थे। पुलिया न होती तो कहीं पार्क की बैंच या सड़क के किनारे की कोई और जगह हो सकती थी। वे पहली बार ही पुलिया पर बैठे थे—इस पुलिया पर। पर उसमें उन्हें कोई अनोखी बात हो ऐसा नहीं लगा था। दरअसल पुलिया उनके लिए संयोगवश थी। उसके आसपास की और उनके द्वारा अनदेखी दुनिया भी संयोगवश थी। वे भी संयोगवश थे और उनका उस तरह वहाँ मिलना भी संयोग की ही बात थी। इनमें से कुछ भी पहले से तय नहीं था। यह कहना मुश्किल है कि कौन पहले था : वे या संयोग। यह भी संयोग ही था कि वे दिखे, वहाँ बैठे हुए और संयोग से आज इन शब्दों में याद आयें—याने तब जब वे संयोग और याद और शब्दों से कहीं दूर जा चुके हैं और शायद अब साथ भी नहीं हैं। कम से कम उस पुलिया पर तो नहीं बैठे हुए हैं। या किसी भी पुलिया पर।

1990

दौआ बाबा

राजापुर गढ़ेवा में अभी भी शायद बूढ़ों को उनकी याद हो। वे एक लँगड़े किसान थे। लँगड़े बाद में हुए, किसान पहले से थे। रेल में चढ़ते पैर फँस गया था सो लँगड़े हो गये थे। लाठी टेकते हुए चलते थे। खेत जाते थे, ढोर-डंगर देखते थे और बहुत अच्छी ढोलक बजाते और गाते थे। अकसर भजन और अन्य पद्य। गाँव में होली जलती थी। सन की पूलें बाँधकर सब लोग होली में "अलैया बलैया सरसों के पँड़ि जाय" कहकर डालते थे, आहुति की तरह। दौआ बाबा भी। फिर अगले दिन गाँव भर के लोग होली खेलते और मण्डली बनाकर गाँव के सब टोलों में घूमते। नायक होते गले में ढोल लटकाये दौआ बाबा। फिर न जाने कब वे ढोल बजाकर नाचने का निश्चय करते। तभी उनके हाथ से लाठी छूट जाती। वे उसे किसी और को थमा देते और लँगड़े होने के बावजूद बिना किसी सहारे के ढोल बजाते हुए नाचने लगते। नाच-नाच में उनकी पैर की लम्बाई बढ जाती। वे पूरे हो जाते और नाचते रहते : होली में पूर्णांग होते दौआ बाबा। इस अचरज को अपने सामने होते सब देखते और देवताओं का आभार मानते। कोई नहीं जान पाता कि वर्ष में एक बार पूरे हो जाने के लिए दौआ बाबा वर्ष भर पूर्णता की इच्छा को कैसे जिलाये रखते थे। पूरी इच्छा होती है, पैर नहीं। भले ही दौआ बाबा का ही क्यों न हो। कभी-कभी इच्छा को हम देवता कहकर भी पुकारते हैं।

1990

शुभस्रवा

एक ठो नदी का नाम : शुभस्रवा। उल्लेख पुराण में। प्राचीन नदी : पता नहीं किस वनप्रान्तर में बहती है। कैसी वनराजि है उसके तट पर : कौन सी निर्झरणियाँ उसमें आकर लीन होती हैं। कहाँ है उसका उद्गम : कितना सूक्ष्म और लगभग अलक्षित। आरंभ में क्षीणतोया। धीरे-धीरे नदी का आकार लेती हुई। जल भरी, जलवनस्पतियों भरी, मछलियों भरी। स्वरपूरित और रूपतरंग से उच्छल। बचपन की नदी : प्राचीनों के यहाँ युवा नदी। देवताओं से अस्पृश्य नदी। भूगोल से अछूती नदी। सिर्फ शब्द की नदी। शब्दसंचय से बनी नदी। पवित्र और उज्ज्वल के पास से बहती और लोप होती नदी। शुभस्रवा पर अनामिका नदी। देवशिशु की पोथी में थम गयी नदी। असंभव, अन्तःसलिला, लुप्त नदी। शुभस्रवा में नदी : हर नदी में नदी। पुराण से बहकर इन शब्दों तक आती नदी : शुभस्रवा।

1990

पुस्तक

पहले यह पुस्तक नहीं थी। कहीं नहीं। न किसी ग्रन्थागार में, न दूकान में और किसी के अँधेरे कमरे में। किसी को कोई अनुमान नहीं था कि वह हो सकती है। किसी को शायद उसके होने की आवश्यकता भी नहीं थी। उसमें विन्यस्त सारे शब्द, लगभग सभी, पहले से ही थे। सिर्फ कोश में नहीं, दूसरी पुस्तकों में। दूसरी पुस्तकें पहले से थीं। जब इस पुस्तक में इन सारे शब्दों को एकत्र किया गया तो शब्दों को आश्चर्य हुआ, दुख नहीं। अपने बहुत पहले से और बहुत दिनों से होने के बावजूद उन्हें न जाने क्यों लगा कि मानो उनका जन्म अभी इस पुस्तक के बहाने ही हो रहा हो। वे कुछ चकराये पर कहा मानकर उस पुस्तक में चले गये और फिर अपने पुराने अनुभवों और स्मृतियों को बुलाने लग गये। पुस्तक में इसके लिए अवकाश था क्योंकि उन्हें वहाँ एकत्र भर किया था, उन्हें बन्दी नहीं बनाया था। उसने दूसरी पुस्तकों से कोई झगड़ा या हुज्जत भी नहीं की। जो थोड़ी सी जगह धूल के छा जाने से बच रह गयी थी वह उसी पर काबिज हो ली। बूढ़ी-ऊँघती और सोयी पुस्तकों में से कई को उसके आने और वहाँ बैठ जाने का पता ही नहीं चला। वैसे इस पुस्तक का अन्ततः और पहली बार होना दूसरों के जानने या मानने पर निर्भर नहीं था। वह नहीं थी। पर अब है। आगे भी रहेगी। एक बार हो जाने के बाद वह अनन्त तक बनी रहती है, कोई इस रहस्य को जाने, या न जाने।

1990

घर-1

वहाँ घर होगा इसकी कोई उम्मीद नही कर सकता था। वह भी एक कोई घर नही, न कि घरों का एक समूह बल्कि अपना घर। उस बियाबान में जहाँ पहुँचने के पहले सारी उम्मीद मिट चुकी थी। जब बिल्कुल हताश थे तो यकायक उम्मीद की तरह वह घर दीखा। याद नही कि पहले उम्मीद आयी कि पहले घर दीखा। लगा कि अगर घर है और उस भटके हुए रास्ते पर ही इतना पछताते हुए हम चल रहे थे तो फिर इस बियाबान का कोई मतलब नही। घर था तो एक तरह से बियाबान को ओझल करते हुए। बेमेल भले हो पर बियाबान था तो घर दीखा तो यह नही कि बियाबान ओझल हो गया हो। घर और बियाबान को, अचरज की तरह, अचानक उनके एक साथ होने को सम्हालकर बचाती हुई उम्मीद थी। फिर हमने पाया कि एक चिडिया भी थी और मुहल्ले की पुरानी बिल्ली भी। फिर रेत और उजाड भी था निचाट। बियावान से जूझता घर था और उसे घेरता बियाबान था। जब तक उम्मीद थी कोई भी दूसरे के बिना न था।

1990

घर-2

एक घर बनायेंगे, अपने बचपन की स्मृतियों और युवा स्वप्नों से। पता नहीं घर के लिए कहाँ जगह मिलेगी। और कहीं नहीं तो शब्दों में ही सही—वहाँ एक बार मिल गयी तो फिर छिनेगी नहीं और अनन्त काल तक अपने ही पास रहेगी। ईंट-गारे के घर में हम सबको नहीं बुला सकते—सब आ जायें पुरखे, रिश्तेदार, दोस्त और दुश्मन तो अँटेंगे नहीं। पर शब्दों में बने घर में जो चाहे और जितने चाहें सो आयें। न चोरी का डर, न चौकीदारी की जरूरत। घर होगा अद्वितीय पर अकेला नहीं, एक घर दूसरे घर का हाथ थामे हुए। असीम के पड़ोस में हमारा छोटा सा घर—ध्वनित-स्पन्दित पर अदृश्य और फिर भी इतना पास कि बिलकुल मन में ही हो—घर। हम एक घर बनायेंगे।

1990

देवता

कोई मन्दिर नहीं था : पुराना टुटहा देवाला भी नहीं। न कोई चौतरा या सिन्दूरसना पेड़। कोई भव्य शान्ति भी नहीं थी वहाँ। पर गुदड़ियों से अपनी अदृश्यता को ढाँके या छिपाये देवता था। बूढ़ा-पुराना-सयाना। धीरोदात्त सिर्फ किसी पुराणगाथा में उल्लिखित, पूरी तरह से तजा और भुलाया जा चुका और सर्वथा अनुपासित देवता था। इमली के पेड़ के नीचे खेलती दो बच्चियों ने उसे देखा तक नहीं था। वह न खेल के योग्य था, न दया के। पता नहीं किस मन्त्रपूत क्षण में उसका उद्‌भव हुआ था। होने के बाद न होना देवता के बस में न था। इसलिए यद्यपि कुछ नही बचा था न पहचान, न अर्चना, न शक्ति, न अभिशाप-वरदान, देवता था बचा हुआ। निश्शेप हो जाने की दैवी असमर्थता के कारण।

1990

बर्बर

वे रथ पर आते हैं, अश्वारूढ़ होकर आते हैं और कभी-कभी देखने को निहत्थे आते हैं। वे पताकाएँ फहराते आते हैं और कहते हैं कि हमें शताब्दियों पहले की पवित्रता और शुद्धि पर वापस जाना चाहिए। वे आते हैं व्यापारियों की तरह और अपनी मनियारी सजाते हैं। वे आते हैं शताब्दियों पहले के अन्याय का बदला लेने की बात करते हुए। वे आते हैं अपनी पहचान बनाये रखने का औचित्य दर्शाते हुए। वे आते हैं कीर्तन करते हुए, वे आते हैं भजन गाते हुए। फिर वे मारते हैं, फिर वे तोड़ते हैं, फिर वे नष्ट करते हैं। वे आते हैं आपके धीरज की सीमा आपको बताते हुए। वे छा जाते हैं, वे रँग देते हैं सबको एक रंग में। वे जगाते हैं डर। वे उकसाते हैं, वे दबाते हैं। वे आते हैं : हम तोरण सजाते हैं, बन्दनवार लगाते हैं, फूल बरसाते हैं। वे हमें पुतलियों की तरह, बिना रामगोसाँई हुए भी, नचाते हैं। हम हतप्रभ उन्हें नष्ट करते ताकते हैं। वे हमें अपने में अनायास ही बदलते हैं और फिर आश्वस्त वापस लौट जाते हैं। वे बर्बर हैं—हमें बर्बर छोड़कर वापस चले जाते हैं। फिर बहुत दिनों तक नहीं आते हैं। आने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

1990

विजेता

हमें आक्रान्त करता हुआ वह आयेगा। वह हमें परास्त करेगा, उसके लोग लूट-मार करेंगे। हम सिर झुकाये, लज्जित, उसके सामने खड़े होंगे। हम उसे ठीक से देख भी न पायेंगे, वह ऐसी विजयपताकाओं और जय-जयकारों से ढँका होगा। वह विजेता है, ऊपर होगा। हम नीचे और झुके हुए होंगे। वह हममें से किसी को नही देखेगा : वह हम सबको एक साथ एक बड़ी संख्या की तरह इकट्ठा देखेगा। वह जीतकर जाना चाहेगा। हम उससे यहीं रह जाने और हमारा स्तर सुधारने का अनुरोध करेंगे। वह कुछ दिन रुकने का आश्वासन देगा और रुक जायेगा। फिर धीरे-धीरे उसे यहीं अच्छा लगने लगेगा और वह हमेशा के लिए यही रह जायेगा। फिर वह हमें कभी चौक-बाज़ार, ब्याह-शादी, ढाबे-कहवाघर मे मिलने लगेगा। वह हमे अपने बचपन के किस्से और जवानी की वीरगाथाएँ सुनायेगा और धीरे-धीरे हममें से ही एक हो जायेगा। सिर्फ उसका विजयचौक बना रहेगा। उसके द्वारा चौड़ी की गयी सड़कें और बेहतर नाली व्यवस्था कई दिनों तक याद रहेगी। हम फिर पहले जैसे ही हो जायेंगे, उसे भी अपने मे मिलाते हुए।

1990

हवा

तीसरी सदी के एक हिमशिखर से चली हवा : वहाँ कैसे पहुँची और कब याद नहीं। मलयानिल बनी, आँधी, चक्रवात, बगूले और झझावात बनी। पर चलती रही . न थकी, न रुकी। कहाँ जाना है यह भी उसे पता नही, बस चलती रही। भरे-पूरे गृहस्थों के आसपास और वनप्रान्तर में सूखी लकड़ी समिधा के लिए बटोरते साधुओं के ऊपर से। नदियों, झरनों से भागते हुए। जब कोई देख नही रहा था तो बन गयी लहलहाते हरे वृक्षों का एक झुरमुट। ठहरी रही और सुस्ताती रही। रसायन बन धरती मे प्रवेश करती रही। धूप बनकर छायी रही। फिर चुपके वापस हवा बन गयी। उसके लिए न समय और न सदियाँ। उसके लिए यों ही अनदिखे लगातार चलना, रूप बदलना और फिर चल देना बाल बिखेरते हुए, स्पर्श बिखेरते हुए, आवाजें और गान बिखेरते हुए, पुकार और आहट बिखेरते हुए। हवा हो जाना, हवा होते रहना। उसके लिए न कोई आरम्भ, न कोई अन्त . बस होने का अनादि अनन्त मध्य। देवताओं की राख, प्राचीन रेत, बरसात मे मिट्टी की सोंधी गंध लिये हारे-थकों के पसीने सुखाती हुई और विजेताओं को गरम थप्पड़ रसीद कर भागती हुई हवा।

1990

नहीं

पता नहीं था कि क्या करना है या कहाँ जाना है ? सोचने का वक्त भी नहीं था। वक्त तो था पर इच्छा नहीं थी। इच्छा तो थी पर हिम्मत नहीं थी। कोई वहाँ नहीं जाना चाहता जहाँ मालूम न हो कि कहाँ है ? कहीं नहीं से भय लगता है। कुछ नहीं से भी। अकसर नहीं से भी। इसलिए बिना तैयारी के चल पड़े। नहीं, थोड़ी सी तैयारी थी। कुछ हाथ लगेगा इसकी आशा नहीं थी। कहीं पहुँच ही जायेंगे इसका आश्वासन नहीं था। कहीं कुछ है जिस तक पहुँचना या जिसे पाना चाहिये ऐसा भरोसा भी नहीं था। इतने सारे नहियों के बीच या उनसे घिरे चलना कठिन था लेकिन कोई और विकल्प भी नहीं था। ऊहापोह था, दिग्भ्रम था, ग्लानि थी, पश्चात्ताप था पर विकल्प नहीं था। यह भी एक नहीं ही था। चलते रहने का हठ था या विवशता। निश्चल भी रहा ही जा सकता था। पर दूर एक कौंध थी, एक लपक थी—यकायक आलोकित हो जाने की संभावना थी। थी भी और नहीं भी थी। बहुत उलझन थी। झिलमिल में गोधूलि में एक पगडण्डी थी जिस पर पहले कोई नहीं गया था। हमने सोचा था कि उस पर हमें कोई नहीं देखेगा। वह नहीं की पगडण्डी थी। नहीं की पगवट नहीं की वीथिका। नहीं की गली। हम इतना चलने के बाद अन्ततः नहीं तक ही तो पहुँच पाते हैं।

1990

रास्ता

हम जहाँ पहुँचे हैं वहाँ अप्रत्याशित तो कुछ नहीं है पर हमने यह सोचा नहीं था कि हम यहाँ पहुँचेंगे। हमें जो रास्ता मिला उस पर हम चलते रहे। कुछ और विकल्प है या संभव है हमें खबर ही नहीं थी। कोई दूसरा रास्ता हमें दीखा भी नहीं। अगर था तो कम से कम हमसे तो ओझल ही। हमें पछतावा नहीं है : दूसरे रास्ते पर भी इतना धूल-धक्कड़ होता और शायद ऐसी ही थकान। उस पर भी लुटेरे होते और छायादार पेड़। हो सकता है धूप कम रहती या कि सरायों में जगह कुछ ज्यादा। फटे जूतों को दुरुस्त कराने का शायद ज्यादा कारगर इन्तजाम होता। पर अगर उस रास्ते भी पहुँचना नहीं था, जिसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है, तो फिर क्या फर्क पड़ता है कि किस रास्ते हम आये ? सच पूछो तो यहाँ तक या कि कहीं तक यह या कोई रास्ता पहुँचता है। इसकी हमने उम्मीद ही नहीं की थी। रास्ता सामने था और चलना था सो चल पड़े। अब यहाँ पहुँच गये हैं तो लग सकता है कि यहाँ पहुँचने के लिए चले थे पर ऐसा था या है नहीं। जो चल रहे हैं वे ऐसे ही चल रहे हैं और किसी सयाने ने अब तक नहीं बताया है कि कहीं पहुँचने के लिए चलना उजर की बात है। जो रास्ता इधर से उधर जाता है वह क्या दरअसल न-कहीं-से-न-कहीं-तक भी नहीं जाता है ?

1990

उत्तरगाथा

हमारा डेरा लुट चुका है। कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। जिस हाकिम ने लूटा उसका हक़ रहा होगा। हम उसकी शिकायत करने नहीं आये हैं। हमें पता है कि डेरे रोज़-ब-रोज़ लुटते रहते हैं—यही यहाँ का रस्मोरिवाज़ है। हमें इसका मलाल नहीं है कि तुम्हारे से पहले हमारा डेरा लुटा। हमारे-तुम्हारे सबके डेरों का इसी तरह लूटा जाना हश्र है—गिले-शिकवों से कुछ हासिल नहीं। लुटने के बाद जो बचाखुचा था वह राख हो चुका। हमारे चेहरे पर लूटे जाने की धूल और जल जाने की राख दोनों हैं। हम अपना घर फूँक कर तुम्हारे पास तमाशा देखने नहीं आये हैं। दरअसल हम आये नहीं हैं, हमें किसी ने, उस हाकिम ने भेजा भी नहीं है। धूल और राख तो उड़ती है—उसे कहीं भेजा या पठाया नहीं जाता। हमें तुम्हारे लुटने-फुँकने का इन्तज़ार भी नहीं है। हम तो अब एक भटकता हुआ ओझल सा डेरा हैं जिसे कहीं ठौर नहीं है। यहाँ हैं तो सिर्फ इस इत्तफाक़ से कहीं और नहीं हैं। हम नहीं हैं और सिर्फ उसके नज़दीक खड़े हैं जो नहीं होगा। हमारा डेरा लुट चुका है।

1990

सरहद

हम उस तक पहुँचे : वैसे न हमको पता था कि वह सरहद है और न उसको। उस तक अक्सर कोई जाता नहीं था। सबको वहाँ तक पहुँचने के पहले ही बिलमने का कोई न कोई कारण मिल जाता था। कुछ अस्पष्ट सा आभास रहता था कि वहाँ या उसके आगे वह है। उस तक जाकर या उसे लाँघकर देखना जरूरी नहीं था। हम जब चले तो हमें भी इसका कोई अन्दाज़ नहीं था कि हम उस तक जा पहुँचेंगे। पर जब पहुँच गये तो पहली जिज्ञासा यही हुई कि क्या यह वही है। फिर प्रश्न उठा कि उस तक पहुँच कर क्या करें : उसे मानकर वापस लौट जायें या कि उसे अनदेखा कर आगे बढ़ जायें। पहला विकल्प संयम और किसी हद तक अपनी सीमा के स्वीकार का था। दूसरा उत्साह और जोखिम का। सरहद इन दोनों से अप्रभावित थी। आप उसका अतिक्रमण किये बिना लौट जायें या कि उसका अतिक्रमण कर उसे पीछे छोड़ते हुए आगे निकल जायें इन दोनों बातों से कोई अन्तर नहीं पड़ता था। वह थी : जो था और जो हो सकता था उनके बीच खिंची हुई और जिसकी हद बाँधती थी उसे बेहद के मैदान में खुला भी छोड़ती हुई। वह सरहद थी और हम उस तक पहुँचे।

1990

वापस

मैं वापस जा सकता था। अपने बचपन में नहीं, उस मुहल्ले में जहाँ बचपन बीता था। उस मकान में जिसमें अब दूसरा या सातवाँ किरायेदार था। त्वचा की ही तरह शिथिल पड़ गये पृष्ठों की उन पुस्तकों के पास जो अभी भी याद हैं। वे अब कहीं नहीं हैं : इसी से उन तक वापस जाना कठिन नहीं है। उन शब्दों के पास जिनसे बने वाक्यसंयोजन अब काम के नहीं। कभी-कभी कुछ याद आते हैं खेल या झगड़े या भूखप्यास में बोले गये। पर अब उनसे कुछ नहीं होगा अगर उन्हें फिर से बोला जाये : न खेल होगा, न झगड़ा बढ़ेगा-निपटेगा, न भूखप्यास लगेगी-मिटेगी। कुछ शब्दों से एक बार ही कुछ काम लिया जा सकता है। वे बने रहते हैं पर आपके लिए बेकाम हो जाते हैं। मुगौड़ों की तीखी सुगन्ध, नाली साफ न हो पाने से फैली बरसात की दुर्गन्ध आदि पर वापस जाया जा सकता है। और वह कठचन्दन के सामने जो बड़ा सा छतनार मौलश्री, नहीं बकौली का पेड़ था उसके भीने-भीने फूल तो अभी भी स्वप्नकथा में टपकते रहते हैं। अगर सपने में वापस जा सकता हूँ तो बचपन में भी।

1990

अभिनय

कोई अभिनय नहीं कर रहा था। जो भी जो था, उसी के अनुरूप कुछ कर रहा था। ठेले पर सब्जी लादे सब्जीवाला सब्जी बेच रहा था : आलू, प्याज, अरबी, टमाटर और बेमौसम की कुछ तरकारियाँ। दाम थोड़ा बाजार से बढ़ाकर ज्यादा नहीं। घरैतिन बाहर आकर मनपसन्द सब्जी खरीद रही थी। अपनी नीले रंग की टोकनी में उसे डालते हुए। एक राहगीर साइकिल पर जा रहा था, पीछे कैरियर पर खाली बोरे लादे हुए। मकान चूँकि एक-दूसरे से दूर-दूर पर थे, सब्जीवाले को काफी दूरी तय करना पड़ रही थी। वह इसलिए भी कुछ दाम बढ़ाता जाता था। दृश्य में हवा में डोलते पेड़, दूर तक बिछी हरियाली, चहकतीं कुछ चिड़ियाँ और इन सब पर छायी क्वाँर की जल्दी ही असह्य हो जानेवाली धूप थी। सब कुछ ठीक-ठीक ही चल रहा था। पर दूर पुलिया पर बैठे बच्चे को, जो खेल-खेल में एक लकड़ी के टुकड़े को कभी कुछ, कभी कुछ बनाकर खेल रहा था, यह सब अभिनय लग रहा था। जैसे सब्जीवाला, उसका ठेला, उसकी सब्जियाँ, उसकी गुहार, वसंती रंग की साड़ी में लिपटी घरैतिन, कत्थई कमीज और खाकी पैंट पहने जाता राहगीर, धूप, चिड़ियाँ, काले तनों और हरे पत्तोंवाले पेड़, धूप आदि अपने होने का अभिनय कर रहे हों, वह जो न हों वह होने का नाट्य कर रहे हों। किसी और को नहीं—पुलिया के नीचे जमा मनोरम कीड़ों, ऊपर छाये नीले आसमान, सबको छूकर अदृश्य बहती हवा आदि को ऐसा नहीं लगा, सिर्फ उस बच्चे को ऐसा लग रहा था।

1990

हार-जीत

वे उत्सव मना रहे हैं। सारे शहर में रोशनी की जा रही है। उन्हें बताया गया है कि उनकी सेना और रथ विजय प्राप्त कर लौट रहे हैं। नागरिकों में से ज्यादातर को पता नहीं है कि किस युद्ध में उनकी सेना और शासक गये थे, युद्ध किस बात पर था। यह भी नहीं कि शत्रु कौन था। पर वे विजयपर्व मनाने की तैयारी में व्यस्त हैं। उन्हे सिर्फ इतना पता है कि उनकी विजय हुई। उनकी से आशय क्या है यह भी स्पष्ट नहीं है : किसकी विजय हुई सेना की, कि शासक की, कि नागरिकों की ? किसी के पास पूछने का अवकाश नहीं है। नागरिकों को नहीं पता कि कितने सैनिक गये थे और कितने विजयी वापस आ रहे हैं। खेत रहनेवालों की सूची अप्रकाशित है। सिर्फ एक बूढ़ा मशकवाला है जो सड़कों को सींचते हुए कह रहा है कि हम एक बार फिर हार गये हैं और गाजे-बाजे के साथ जीत नहीं हार लौट रही है। उस पर कोई ध्यान नहीं देता है और अच्छा यह है कि उस पर सड़कें सींचने भर की जिम्मेदारी है, सच को दर्ज करने या बोलने की नहीं। जिन पर है वे सेना के साथ ही जीतकर लौट रहे हैं।

1990

अनुपस्थिति

हम एक दिन ईश्वर के घर गये। उनसे वैसे कोई खास पहचान नहीं थी पर इतना नाम था उनका मुहल्ले में कि सोचा जब यहीं रहते हैं तो सौजन्य के नाते मिल आना चाहिये, कम से कम एक बार तो। वे वहाँ बहुत पहले से रहते हैं। बल्कि लोग तो यह मानते थे कि वे ही वहाँ सबसे पहले आये थे। उनका घर भी बहुत पुराना था हालाँकि अब हर साल उसमें कुछ रंगरोगन लग जाता है। तो जब हम पहुँचे तो खासी भीड़ और शोरगुल था : कनफोड़ संगीत भी, अधिकतर बेसुरा। लोग आपस में अधिक मिल रहे थे, उनसे बात करने, लगता था कि कम ही आये हैं। हमें प्रतीक्षा करना पड़ी क्योंकि उन तक सीधे पहुँचना आसान नहीं था। और जहाँ हमें खड़े होने को मुश्किल से जगह मिली थी वहाँ से वे दीख नहीं रहे थे। जब हमारी बारी आयी और हम पास पहुँचे तो हमने पाया कि दरअसल वे वहाँ हैं ही नहीं। हो सकता है कि बाकी सब को नज़र आ रहे हों और हमसे ही ओझल हो गये हों। इस रहस्य से या कि अपना ही भण्डाफोड़ न हो जाये इस डर से हम चुपचाप वहाँ से चले आये : इतने सारे लोगों को, जो आँखें झुकाये उनकी ओर जा रहे थे, अपनी-अपनी चिन्ताओं में डूबे हुए, हम किस मुँह से बताते कि वे वहाँ नहीं हैं। हो सकता कि कहीं सैर करने गये हों या कि वहीं कोने पर छुप कर हमसे लुकाछिपी खेल रहे हों। हम एक दिन ईश्वर के घर गये।

1990

अँधेरे में

धीरे-धीरे रोशनी कम होती जाती है, आँखों की भी और कमरे की भी। अँधेरा बढ़ता जाता है। कम से कम इस कमरे में, अगर बाहर नहीं। एक बहुत मोटा बहीखाता है जिसमें, जितनी भी रोशनी है उसी में, हम सदियों से लिख रहे हैं अपने आसपास जो घट रहा है उसका हालचाल। हमें याद नहीं कि किसने हमसे यह करने को कहा था, किसने हमें यह जिम्मा सौंपा था। कोई कभी पूछने भी नहीं आया या आता कि काम कैसा चल रहा है। किसी ने आकर हम जो अब तक लिख चुके हैं उसे पढ़ा या जाँचा भी नहीं। ऊब होती है, थकान और चिढ़ भी। हमें कोई भ्रम नहीं है कि हम जो लिख रहे हैं सिर्फ वही घट रहा है। बूढ़ी आँखों को और इस खिड़की से सब नज़र भी कहाँ आता है। पर जो-जितना दीख पड़ता है हम दर्ज करते रहे हैं। अचरज सिर्फ इस पर होता है कि आत्मा के सुनसान में इतना घटता-जनमता और लड़ता-जूझता हारता-जीतता और समाप्त होता रहता है कि उसी का किस्सा बखानने के लिए यह खाता, ये शब्द और स्याही, यह रोशनी और अँधेरा काफी नहीं पड़ते।

1990

जंगल

घर हमारा शहर में था और फिर भी घर के पास जंगल था। यों शहर और जंगल बेमेल थे, शायद एक दूसरे के विरुद्ध भी। पर थे और हमारा घर उनके पास था। शहर में था, जंगल के पास था। बहुत सारे पक्षी आते थे जंगल से और बहुत सारी आवाज़ें शहर से। दोनों ही आकर हमारे घर की छत या उसकी मुँडेरों पर सुस्ताते थे। बिना किसी बैर के शहर और जंगल हमारे घर मिलते थे। कभी लगता कि कुछ हराभरापन टहल रहा है खिड़की के बाहर और कभी कि कुछ शरारतें बाहर चहलकदमी कर रही हैं। शहर के अन्दर भी कुछ-कुछ जंगल था जो सरहदें फाँदकर फैल जाना चाहता था। जंगल के मन ही मन में एक शहर बसा था जो चुपके से सड़कों-मकानों में घिर जाना चाहता था। हमारा घर हरी उन्मुक्ति और लिपे-पुते घिराव के बीच था : कभी स्थिर और कभी काँपता हुआ।

1990

पुकार

अँधेरे में अकल्पनीय आलोक की तरह कोई पुकारता है। सड़क पर थककर ढेर हो जाने के पहले मोड़ से कोई पुकारता है। किसी अनाम सुदूर कन्दरा से, किसी अदृश्य गवाक्ष से, किसी असम्भव नदीतट से कोई पुकारता है। घाटी में चट्टान के पास उगे छोटे से बिरछे की किसी डाल से पक्षी की तरह और नदीजल में लुढ़कते जा रहे पत्थर की कातरता से कोई पुकारता है। भविष्य की एक शताब्दी की मेज़ पर जमा कागज़ों के ढेर से किसी अनाविष्कृत शब्द की तरह कोई पुकारता है। सारा पाथेय गँवा चुकने के बाद जब हम किसी अनजानी परछी में बैठे अपनी नियति पर विलाप करने को होते हैं तो कोई पुकारता है। जब सड़क पर अपने सामने हुई हत्या की गवाही देने से बचकर हम भाग जाना चाहते हैं, तो कोई पुकारता है। जब जीने के विन्यास में हम भटक रहे होते हैं तो किसी प्राचीन कवि की आवाज़ में कोई पुकारता है।

1990

अचानक

जब वह क्षण आया तो बिलकुल अचानक जिनके जीवन में वह आया उन्हें स्वयं इस अकस्मात् की कोई आशा नहीं थी। उस हरे-भरेपन में उस प्रस्फुटन का अवसर यों तो हो सकता था पर होगा यह किसी ने नहीं सोचा था। शायद उस क्षण को भी पता नहीं था कि अपनी सहज लय से उसे उस मुकाम तक पहुँचना होगा। निम्ननाभि था वह क्षण, पर यों कहीं नही था। उस शरीर से उस दूसरे शरीर के उस रसविभोर स्पर्श में उसकी संभावना हुई। यों वह बीत गया पर जैसे आकाशगंगा में लोप हो जाने के बाद भी नक्षत्र कहीं-न-कहीं बना रहता है वह भी बना रहा। उसे सिर्फ वे जानते और देख पाते हैं जिनके जीवन में वह विस्मय की तरह घटा था। चुम्बन का वह पहला क्षण और उसका आर्द्र स्पन्दन तिरोहित नहीं हुए। वे लय हो गये जिसे प्रायः, नीरव ही, उनके शरीर गाते रहते हैं।

1990

शुभाचल

उन्होंने कई पर्वतों की कल्पना की और कई नदियों की भी। बड़े, छोटे और मँझोले भी। पहले कल्पना में उन्हें खींचा, उनमें रंगरूप भरे। फिर पृथ्वी पर उन्हें बना दिया : उदयाचल, हिमाचल, विन्ध्याचल, गन्धमादन आदि। पर कुछ के बारे में या तो भूल गये, या उनके लिए पृथ्वी पर जगह नहीं मिली। वे कल्पना में ही रह गये। उन्हीं में से एक : शुभाचल। चित्ररथा और चित्रवहा नदियों को पृथ्वी पर न सही महाभारत में तो स्थान मिल गया। वेदस्मृति और वेदगंगा नदियों तक के बहने के लिए अवकाश निकल आया। पर कल्पना में ही अचल रह गया शुभाचल : या कि थोड़ा-थोड़ा शुभ उसने दे दिया हिमवन्त को, विन्ध्य और सह्याद्रि आदि को। पृथ्वी पर इतने पर्वत एक-दूसरे से पास या दूर पर कहीं नहीं शुभाचल : सिर्फ कल्पना में अकेला शुभाचल। हिमालय की हरीतिमा कम होती है, झुकती हैं विन्ध्यमालाएँ पर अचल और अडिग है शुभाचल क्योंकि पृथ्वी पर नहीं पुराणकल्पना में है शुभाचल। कल्पना में एक पर्वत शुभाचल।

1990

ब्रह्मारण्य

वह सबसे अन्त में था। शब्द छूट गये, स्पर्श जाता रहा। रूप तिरोहित और रस का लोप हो गया। गन्ध भी नही बची। छूटने के उपायों की खोज में हम उस अरण्य में पहुँचे : वह ब्रहम का अरण्य था। ब्रह्म का जंगल, ब्रहम का उजाड़। वायु थी पर त्वचा को पता नही चला। ज्योति थी पर आँख देख नहीं सकी। अन्धकार, रश्मियूथ, मेघ-घटाएँ, वर्षा और तारागण सब थे पर दीख नही पड़ा आकाश। उस आकाश का भी आकाश था। महाकाश। वह सबसे अन्त में था अरण्य और आकाश। हम अकेले वहाँ पहुँचे। पर अगर इन शब्दों में वह स्मृति अन्तरित करना सम्भव है तो हम वहाँ भी नही पहुँचे। सब कुछ पीछे छोड़कर-गँवाकर सिर्फ शब्द लिये पता नहीं हम कहाँ पहुँचे। जहाँ पहुँचे वह ब्रह्म का अरण्य नही था। जब तक शब्द शेष हैं ब्रह्मारण्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। हमने यह शब्दों में ही जाना। जब तक शब्द है, ब्रहम कहाँ, अरण्य कहाँ ?

1990

● ● ●